डा० धर की जन्मशती पर

विज्ञान और मानव

स्व० डॉ० नीलरत्न धर

भूतपूर्व निदेशक, शीलाधर मृदा शोध संस्थान इलाहाबाद विश्वविद्यालय

एन० आर० धर स्मारक निधि तथा विज्ञान परिषद्, प्रयाग

के सौजन्य से

1992
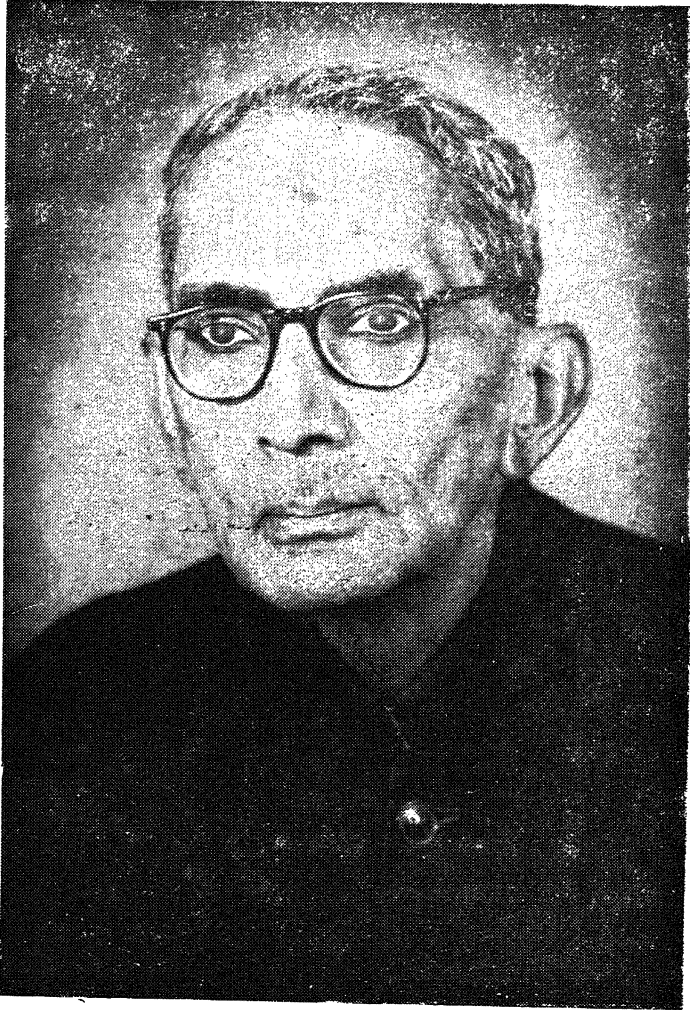
डा० नीलरत्न धर

(2 जनवरी 1892—5 दिसम्बर 1986)

पुण्य शती के अवसर पर

विज्ञान और मानव

(1979 ई में दिये गये दो भाषण)

स्वर्गीय डा० नीलरत्न धर
निदेशक, शीलाधर मृदा शोध संस्थान
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

1992

एन० आर० धर स्मृति निधि तथा विज्ञान परिषद्
के सौजन्य से

मूल्य रु० 20-00

मुद्रक

प्रसाद मुद्रणालय,

7 बेली एवेन्यू, इलाहाबाद,

प्रोफेसर नील रत्न धर : एक परिचय

डॉ० दिनेश मणि
संयुक्त मन्त्री, विज्ञान परिषद
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद

प्रो० धर का जन्म 2 जनवरी, 1892 को कलकत्ता से लगभग 75 मील दूर जैसोर कस्बे में (जो अब बाँग्ला देश में है) एक वकील परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम प्रसन्न कुमार धर तथा माता का नाम नीरोद मोहिनी था। प्रो० धर अपने भाइयों में से तीसरे थे। इन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने ही कस्बे के जिला परिषद के स्कूल में प्राप्त की थी। सन् 1907 में ये कलकत्ता के रिपन कालेज में भर्ती हुये, फिर प्रेसीडेन्सी कालेज चले आये। विद्यार्थी जीवन में इनकी प्रखरता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सुनीति कुमार चटर्जी जैसे मेधावी सहपाठी के होते हुये भी इन्होंने सर्वोच्च स्थान प्राप्त करके एक साथ बीस पदक प्राप्त किये थे। इनकी अध्ययन के प्रति अद्भुत रुचि तथा विज्ञान के प्रति उत्कृष्ट लगाव से आचार्य पी० सी रे तथा डॉ० जे० सी० बसु अत्यन्त प्रभावित हुये।

एम० एस-सी० परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् आचार्य पी० सी० रे ने इन्हें विदेश जाकर शोधकार्य करने के लिये प्रेरित किया। 3 सितम्बर, 1915 को प्रो० धर भारत सरकार की छात्रवृत्ति पर यूरोप गये और सितम्बर के अन्तिम सप्ताह से प्रो० जे० सी० फिलिप्स के निर्देश में डी० एस०-सी० उपाधि के लिये अपना शोध कार्य प्रारम्भ कर दिया। अल्पावधि में ही अपने उत्कृष्ट शोध कार्य से आपने सबको आश्चर्य में डाल दिया। आपने लन्दन तथा पेरिस विश्वविद्यालयों में 4 वर्ष तक शोध कार्य सम्पन्न करके सर्वोच्च डी० एस-सी० की उपाधियाँ अर्जित कीं और तुरन्त ही प्रथम भारतीय आई० ई०

एस० के रूप में नियुक्त हो गये। इन्हें छूट दी गयी थी कि ये भारत के चार विश्व-विद्यालयों (कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा इलाहाबाद) में से किसी एक में रसायन के अध्यक्ष पद का कार्यभार सँभालें। इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय को अपना कार्य क्षेत्र चुना और 19 जुलाई, 1919 को म्योर सेन्ट्रल कालेज, इलाहाबाद में भौतिक रसायन के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष का कार्यभार सँभाला।

मई 1928 में आपको पुनः यूरोप जाने का अवसर प्राप्त हुआ। इस यात्रा में आपने कई देशों का भ्रमण किया। इसके बाद स्वदेश लौटकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रसायन विज्ञान विभाग में नियमित रूप से अध्यापन कार्य करने लगे।

सन् 1930 में कु० शीला राय से आपका पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न हुआ। शीला राय की दो अन्य बहिनें लीला राय और बुलबुल राय थीं। सन् 1949 में शीला जी का असामयिक निधन हो जाने से सन् 1950 में प्रो० धर ने कलाविद् कु० मीरा चटर्जी से विवाह किया। दोनों ही विवाहों से आपको कोई सन्तान प्राप्त न हो सकी।

प्रो० धर कुछ वर्षों के लिये शिक्षा विभाग में डिप्टी डाइरेक्टर भी रहे। आई० ई० एस० के रूप में आप सन् 1947 में सेवानिवृत्त हुये। बाद में भी आप कुछ वर्षों तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अवैतनिक अध्यक्ष व प्रोफेसर बने रहे। सरकार की ओर से आई० ई० एस० की जो पेंशन आपको मिलती थी उससे आप सन्तुष्ट रहते थे।

प्रो० धर का प्रारम्भिक शोध कार्य प्रकाश-रसायन (फोटोकेमिस्ट्री) से सम्बन्धित था। उसके बाद इन्होंने कोलायडों के विषय में अनुसंधान कार्य प्रारम्भ कराया। फिर एकाएक इनका ध्यान मृदा रसायन की ओर गया। मृदा में प्रकाश-रासायनिक विधि से नाइट्रोजन के स्थिरीकरण की अपूर्व कल्पना से इनके शोध की दिशा में आश्चर्यजनक बदलाव आया। सन् 1935-36 में इन्होंने ऊसरों के उर्वरीकरण में इसी विचार-धारा का संप्रयोग किया। इनके अनुसार कर्बोहाइड्रेट का किसी भी पृष्ठ (सतह) पर आक्सीकरण होने से प्रचुर ऊर्जा उत्पन्न होती है। यह ऊर्जा वायुमण्डल में विद्यमान अक्रिय नाइट्रोजन के स्थिरीकरण के काम आ सकती है।

भारत एवं अन्य देशों की बिभिन्न उच्च समितियों, प्रतिष्ठानों, संस्थाओं से आजीवन जुड़े रहने वाले प्रो० धर को सन् 1919 में **"केमिकल सोसायटी"** तथा **"रायल इन्स्टीट्यूट ऑफ केमिस्ट्री"** का फेलो चुना गया। सन् 1961 में रुड़की में हुए **"भारतीय विज्ञान कांग्रेस"** के आप अध्यक्ष चुने गये। इसके पहले इन्हें **"इण्डियन केमिकल सोसायटी"** का अध्यक्ष बनाया गया। आप **"इण्डियन एकेडमी ऑफ साइन्सेज"** **"नेशनल एकेडमी ऑफ साइन्सेज, इण्डिया"** **"नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्सेज, इण्डिया"** के संस्थापक सदस्य थे और कई बार इनके अध्यक्ष भी चुने गये। आप वर्षों तक विज्ञान परिषद के भी सभापति रहे।

प्रो० धर सन 1937 में हालैण्ड में आयोजित "अन्तर्राष्ट्रीय कृषि कांग्रेस" के सदस्य रहे। इनकी विशिष्ट प्रतिभा को सम्मानित करते हुये सन् 1956 में फ्रेंच एकेडमी ऑफ एग्रीकलचर ने इन्हें विदेशी फैलो के रूप में चुना। इसके अतिरिक्त प्रो० धर ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों एवं सम्मेलनों में भाग लिया। प्रो० धर रसायन में "नोबेल पुरस्कार" विजेताओं का चयन करने वाली "नोबेल प्राइज कमेटी" के सदस्य भी रहे। सन् 1968 में पोप के आमन्त्रण पर आप रोम में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सिम्पोजियम-"आर्गेनिक मैटर एण्ड स्वायल फर्टिलिटी" पर व्याख्यान देने के लिये गये।

प्रो० धर को कलकत्ता विश्वविद्यालय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने डी० एस-सी० की मानद उपाधियों से अलंकृत किया। प्रो० धर ने लगभग 200 डी० फिल०/डी० एस-सी० शोधछात्रों के शोधकार्य का निर्देशन किया तथा 600 से भी अधिक मौलिक शोध पत्र प्रकाशित किये। प्रो० धर के शिष्यों की परम्परा भारत में ही नहीं अपितु सारे विश्व में व्याप्त है। प्रो० धर के प्रमुख शिष्यों में डॉ० आत्माराम, डॉ० डी० एस० कोठारी, प्रो० सत्येश्वर घोष, प्रो० गोपाल राव, प्रो० ए० सी० चटर्जी, प्रो० ए० के० भट्टाचार्य, प्रो० सत्यप्रकाश, प्रो० रामचरण मेहरोत्रा, प्रो० रमेशचन्द्र कपूर, प्रो० शिवगोपाल मिश्र के नाम महत्वपूर्ण हैं।

रसायन के क्षेत्र में आपकी महान उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुये प्रो० विक्टर कोब्डा (सोवियत रूस) तथा लेडी ईव बेल्फोर (इंग्लैण्ड) ने आपका नाम "नोबेल पुरस्कार" के लिये प्रस्तावित किया था।

प्रो० धर ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय, विश्वभारती विश्वविद्यालय एवं कलकत्ता विश्वविद्यालय को विज्ञान अनुसंधान विकास के लिये बीस लाख रुपये दान किये। "चितरंजन सेवा सदन" (कलकत्ता) तथा "सर जे० सी० बसु लेक्चररशिप" (कलकत्ता विश्वविद्यालय) हेतु आपने क्रमशः एक-एक लाख रुपये दान दिये।

प्रो० धर ने सन् 1935 में शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान स्थापित किया और वे इसके आजीवन मानद निदेशक रहे।

प्रो० धर ने जो शोध कार्य किया वह तो देश-विदेश की शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ ही, किन्तु साथ ही आपने कई पुस्तकें भी लिखी हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) केमिकल ऐक्शन आफ लाइट (ब्लेकी एण्ड सन्स, 1939)

(2) न्यू कन्सेप्ट्स ऑफ बायोकेमिस्ट्री, 1932

(3) वर्ल्ड फूड क्राइसिस एण्ड लैण्ड फर्टिलिटी इम्प्रूवमेन्ट (इस पुस्तक का रूसी भाषा में भी अनुवाद किया गया है)

(4) आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र रे—लाइफ एण्ड एचीवमेन्ट्स, 1972

(5) रिफ्लेक्शन ऑन केमिकल एजुकेशन, 1974 (यह पुस्तक एक प्रकार से प्रो० धर का आत्मचरित्र है। इसमें आपने देश-विदेश के रसायन विषयक अनेक संस्मरण प्रस्तुत किये हैं।)

प्रो० धर ने बँगला भाषा में भी एक पुस्तक लिखी है—

(6) जमीन उर्वरता वृद्धि उपाय, 1954

इन पुस्तकों से प्रो० धर के उदार विचारों का पता चलता है।

राजनीति से कोई सम्बन्ध न रखने वाले, चाटुकारिता से कोसों दूर प्रो० धर को अपने ही देश में पुरस्कारों तथा उचित सम्मान से जिस तरह वंचित रखा गया यह एक विडम्बना ही है। जहाँ अनेक वैज्ञानिक 'पद्‌मश्री', 'पद्‌म भूषण' 'पद्‌म विभूषण' आदि अलंकरणों से सम्मानित हैं वहीं प्रो० धर को इनके योग्य क्यों नहीं समझा गया ?

निसन्देह, जीवनपर्यन्त शोध केप्रति अपने जीवन को समर्पित कर देने वाले प्रो० धर एक महान रसायनविद् ही नहीं अपितु महामानव भी थे। 24-25 अप्रैल, 1982 को नेशनल एकेडमी ऑफ साइन्सेज, इण्डिया (इलाहाबाद) द्वारा प्रो० धर की 90वीं वर्षगाँठ के अवसर पर उनके सम्मान में "रसायन, कृषि तथा मानव" विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया था जिसमें उनकी प्रशस्ति में यह कहा गया "आपने अन्नोत्पादन की वृद्धि के लिये मृदा विज्ञान की समस्याओं पर अनुसंधान करने में अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया है"। इस प्रशस्ति से आपके जीवन-दर्शन की एक स्पष्ट झलक मिलती है।

प्रो० धर एक स्वाभिमानी, सतत शोधरत वैज्ञानिक, कुशल वक्ता तथा उदार व्यक्ति थे। 5 दिसम्बर, 1986 को प्रातः 7 बजे प्रो० धर का देहान्त हो गया। मृत्यु के समय इनकी आयु 94 वर्ष थी। हम लोग इन्हें शतायु देखना चाहते थे किन्तु मृत्यु के केवल दो दिन पूर्व इनकी तबियत खराब हुयी और एक दिन फर्श पर गिरे कि उसके बाद बिस्तर पकड़ लिया और अन्ततः परलोक सिधार गये।

यद्यपि प्रो० धर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु स्मृतियों के वातायन से इनकी कीर्ति-सुरभि इनकी उपस्थिति का सदैव आभास दिलाती रहती है। आपकी पत्नी श्रीमती मीरा धर, आपके द्वारा स्थापित शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, नेशनल एकेडमी ऑफ साइन्सेज, अब भी स्मृति-चिन्ह् के रूप में शेष हैं।

प्रो० धर की जन्मशती के अवसर पर उनके सारे शिष्य तथा प्रशंसक उनका स्मरण तो करेंगे ही किन्तु उनके विचारों को आत्मसात करके ही हम लाभान्वित हो सकेंगे।

OOO

प्रस्तावना

विचारोत्तेजक एवं भावप्रवण निबन्धों का, और वह भी वयोवृद्ध वैज्ञानिकों द्वारा लिखे गये निबन्धों का महत्वपूर्ण स्थान होता है चाहे वे किसी भी भाषा में क्यों न लिखे जायँ। डॉ० नीलरत्न धर भारत के एक महान भौतिक रसायनवेत्ता थे। उन्हें भारत के रसायनवेत्ताओं का पितामह कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। यों तो कोई भी विज्ञानवेत्ता जीवन भर अपने शोधकार्य के सिलसिले में न जाने कितने शोध निबन्ध लिखता है किन्तु डॉ० धर उन सबों से विलग दिखते हैं। अपने अध्यापन के प्रारम्भिक काल से ही वे लोकप्रिय भाषण देने पटु थे। शायद ही भारतीय साइंस कांग्रेस का कोई ऐसा अधिवेशन होता रहा हो जिसमें वे ऐसे भाषण न देते रहे हों। उनकी आवाज बुलन्द थी और उनके विचार बहुत ही स्पष्ट होते थे—वे निडर इतने थे कि अपनी बात करते हुये बड़ी से बड़ी हस्ती से नहीं दबते थे। वे डंके की चोट पर अपने देश की एवं विज्ञान जगत की दुर्बलताओं को प्रकट करने वाले थे। वे सत्य पर बल देने वाले थे। तथ्यों को उसके नग्न रूप में प्रस्तुत करने से वे तनिक भी नहीं हिचकते थे।

ज्यों-ज्यों उनकी आयु बढ़ती गई, गम्भीरता में वृद्धि हुई और उनका भाव-जगत विस्तीर्ण होता गया। तो भी उनके कुछ प्रिय विषय थे जिन पर वे लिखते और बोलते रहते थे। भोजन की समस्या, जनसंख्या, भूमि उर्वरता, उपवास, विज्ञान का इतिहास, प्राचीन भारत का उत्थान ऐसे ही विषय थे। वे इन विषयों पर घंटों बोल सकते थे। प्राय: उनके अध्यक्षीय भाषण पचासों पृष्ठ के होते थे। अपने कथन की पुष्टि के लिए वे पर्याप्त आँकड़े जुटाते थे। वैज्ञानिकों के जीवन पर प्रकाश डालते हुए उनकी विशेष तिथियों को बारम्बार दुहराते थे, विदेशी वैज्ञानिकों के पूरे पूरे नामों का उल्लेख करते थे और श्रोताओं को तमाम प्रकार की सीखें देते रहते थे। उनमें तुलनात्मक दृष्टि की प्रधानता थी। वे प्राचीन और अर्वाचीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य विचारों या तथ्यों का रोचक चित्रण करते थे।

डॉ० धर ने दोनों विश्व युद्धों को निकट से देखा-परखा था। यूरप की राजनैतिक उथल-पुथल से वे परिचित थे। इसी तरह अपने देश में उन्हें गांधी जी से सम्पर्क

रवीन्द्र नाथ टैगोर, जवाहर लाल नेहरू, इंदिरा गांधी से पत्र व्यवहार करने और विचार विनिमय करने का अवसर प्राप्त था। वे धर्म तथा विज्ञान पर समान अधिकार से भाषण दे सकते थे। वे बहुभाषाविद थे—फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी, बँगला संस्कृत इन सबका उन्हें ज्ञान था। वे रसायन शास्त्र के अतिरिक्त जैव रसायन तथा कृषि रसायन से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने अपने समय के देश-विदेश के शीर्षस्थ वैज्ञानिकों को अपनी खोजों से अभिभूत कर रखा था। वे रामन, कृष्णन, साहा, भाभा—सबों से खुलकर बातें करते थे। उनमें हीनग्रंथियों का अभाव था।

उन्हें सादगी प्रिय थी, यद्यपि उनके जीवन का अधिकांश विदेशों में ही बीता। उनका खान-पान संयमित था। वे बहुत ही मितव्ययी वैज्ञानिक थे। वे अपने गुरू आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय के साथ साथ वे फ्रांसीसी वैज्ञानिक लैवोजिएर से अत्यधिक प्रभावित थे। वे विज्ञान की शिक्षा को उच्चस्तरीय बनाना चाहते थे इसलिए अपने छात्रों को वे फ्रांस, जर्मनी तथा इंगलैंड में प्रचलित शिक्षा पद्धति से प्रशिक्षित करते रहे। वे अत्यन्त व्यावहारिक अर्थात् प्रायोगिक विज्ञानी थे। कक्षा में दिये जाने वाले उनके व्याख्यान प्रयोगों के माध्यम से सम्पन्न होते थे। पढ़ते समय कोई भी छात्र चूँ-चपड़ नहीं कर सकता था। अनुशासन उन्हें अत्यन्त प्रिय था।

उन्हें अपने देश की गरीबी और देशव्यापी अनुशासनहीनता का पूरा पूरा एहसास था। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में भारतीय कृषकों की समस्या, अन्न उत्पादन, भुखमरी आदि के विषय में ही मनन एवं चिन्तन किया। वे अपना समय व्यर्थ नहीं गँवाते थे। शायद दूर-दूर तक भ्रमण करते समय वे गम्भीर विषयों पर सोचते रहते थे तभी तो उनकी लेखनी ऐसे विषयों पर चलती रहती थी। युद्ध और शान्ति, युद्ध और भुखमरी, वैज्ञानिक आविष्कार और युद्ध, अच्छा स्वास्थ्य और राष्ट्र की उन्नति—इन सबों में उन्हें घनिष्ठ सम्बन्ध दिखता था। इसलिए उन्हें भारत में महात्मा बुद्ध और गांधी के जन्म का औचित्य भी दिखता था। उन्हें नैपोलियन तथा और पास्तुर में स्पष्ट अन्तर दिखता था। वे लीबिग, लैवोजिएर, ऐम्पियर, वैन्टहाफ जैसे शीर्षस्थ वैज्ञानिकों द्वारा व्यक्त कुछ बातें दुहराते हुए और उनकी प्रशंसा करते अघाते नहीं थे।

अतः स्वाभाविक था कि चिन्तन-मनन के क्षणों में उनका मन ऐसे भावों में, ऐसे उच्च विचारों में जा रमता था जो अनुभव पर आधारित होकर विराट सत्य को इंगित करने वाले हों।

प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० धर के दो लम्बे लम्बे निबन्धों का हिन्दी रूपान्तर संकलित किया गया है। ये विचार आज से 12 वर्ष पूर्व के हैं अतएव उनमें आये कुछ आँकड़े या कुछ सूचनाएँ सामयिक प्रतीत नहीं होंगी किन्तु उनमें जो भाव निहित हैं वे प्रासंगिक हैं, महत्वपूर्ण हैं एवं विचारणीय हैं।

मानव मन मानव के उत्थान-पतन के बीच निरन्तर चक्कर लगता है। ऐसे विचार जो उत्कर्ष लाने वाले और मंगलकारी हों, उनको मन के भीतर से काढ़ कर जन कल्याण के लिए प्रकट करना या प्रस्तुत करना मनीषियों का कार्य है। डॉ० धर ऐसे ही मनीषी हैं। साहित्यकारों के निबन्धों से वैज्ञानिकों के निबन्ध इस दृष्टि से भिन्न होते हैं कि उनमें भाषा का अलंकरण या भावों की अतिशयोक्ति नहीं रहती। किन्तु उनके भीतर से जो भाव झाँकते हैं वे मानवता के लिए मंगलकारी होते हैं। असली विज्ञानवेत्ता या वैज्ञानिक भावी खतरों को छिपाता नहीं, उन्हें उजागर करता है। वह दार्शनिक जैसी बातें तो करता है किन्तु उसका मन धरती पर भ्रमण करता है, आसमान पर नहीं उड़ता।

डॉ० धर ने कई पुस्तकें लिखी हैं। 'रसायन शिक्षा एक विचार' में उन्होंने आत्म-वृत्तान्त लिखा है। सम्भवतः वह अपनी कोटि की ऐसी पुस्तक है जिसमें उनके शिक्षा सम्बन्धी विचार व्यक्त हुए हैं। डॉ० धर ने 1916 से लेकर 1985 तक जो कुछ अनुभव किया उसका सही सही वृतान्त इस पुस्तक में प्रस्तुत हुआ है। किन्तु इसमें विज्ञान के वरदान-अभिशाप, मानवता, जनसंख्या आदि विषयों पर जो बातें प्रसंगवश कही गई हैं वे ही विस्तार पाकर प्रस्तुत पुस्तक में व्यक्त हुई हैं।

डॉ० धर में विचारों का बाहुल्य था किन्तु वे अपने लेखों को पुस्तकाकार करने से कतराते रहते थे। यह तो बंगाल की शस्यश्यामल भूमि की उर्वरता ही कहें कि उनके कुछ महत्वपूर्ण विचार अंग्रेजी तथा बँगला भाषा में प्रकाशित हैं। हिन्दी को ऐसा गौरव प्राप्त नहीं था। मेरे अनुरोध पर ही उन्होंने अपनी दो अंग्रेजी पुस्तकों के हिन्दी भावानुवाद प्रस्तुत करने की अनुमति दी थी। पहली पुस्तक उनके जीवन के अन्तिम क्षणों में प्रकाशित हो रही थी किन्तु यह दूसरी पुस्तक उनके प्रिय शिष्य डॉ० सन्त प्रसाद टण्डन के यहाँ सम्पादनार्थ पड़ी रह गई थी। उन्होंने डॉ० धर की मृत्यु के बाद जब यह पुस्तक मुझे दी तो मैं इस ताक में था कि इसे प्रकाशित करूँ।

अब जबकि डॉ० धर की जन्म शती का वर्ष आ पहुँचा है तो यह मेरा दायित्व है कि इस पुस्तक को प्रकाशित करूँ। इस अवसर का लाभ उठाकर मैं यह दूसरी पुस्तक प्रकाशित कर रहा हूँ। इसका शीर्षक मेरा दिया हुआ है। इसमें उनके दो विस्तृत भाषण सम्मिलित हैं।

इस पुस्तक का मूल भाव विज्ञान के वरदानों और अभिशापों को उजागर करना है। डॉ० धर अपने युग के प्रति कितने जागरूक थे, वे विज्ञान को किस दिशा में मोड़ देना चाहते थे और विज्ञान की कुछ खोजों को दुरुपयोग होने से कितने दुखी थे, इसका पता इस पुस्तक के पढ़ने से लग सकेगा।

मैं प्रायः 40 वर्षों तक डॉ० धर के सम्पर्क में रहा हूँ। जब मैं देहात से इलाहाबाद पढ़ने आया तो डॉ० धर का नाम विद्यार्थियों की जबान पर था, मैंने 1948 में उनसे

रसायन विषय के व्याख्यान सुने और 1952 में जब मैं उनके निर्देशन में शोधकार्य करने लगा तो उनको निकट से देखने का अवसर मिला । मैं उनके व्यक्तित्व से प्रभावि रहा हूँ । उनकी स्पष्टवादिता और निर्भीकता ने मुझे सदैव अनुप्राणित किया है । मैं चाहता था कि उनके विचारों से हिन्दी जगत भी परिचित हो । डॉ० धर विज्ञान परिषद के सभापति भी रह चुके हैं और 1961 में रुडकी में दिये गये उनके अध्यक्षीय भाषण का हिन्दी रूपान्तर करके मैंनें विज्ञान परिषद से प्रकाशित किया था तथा उसकी प्रतियाँ वैज्ञानिकों के बीच वितरित कराई थीं ।

मुझे विश्वास है कि डॉ० धर की यह कृति हिन्दी पाठकों को रुचिकर लगेगी । यद्यपि इसका आकार लघु है किन्तु इसमें जो मौलिक विचार व्यक्त हुए हैं उनमें तीक्ष्णता है और सत्य का पुट है । इसमें डॉ० धर असली विज्ञानी के स्वर में बोलते प्रतीत होते हैं ।

उनके शतीवर्ष के अवसर पर इस पुस्तक को प्रकाशित करते हुए हमें अतीव हर्ष हो रहा है । यदि पाठकजन अपने इस महान वैज्ञानिक के विचारों से लाभान्वित हो सके तो हमारा श्रम सार्थक होगा ।

शिवगोपाल मिश्र
अवकाश-प्राप्त निदेशक
शीलाधर मृदा शोध संस्थान
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद
14-11-92

विषय सूची

1

अभिशप्त विज्ञान

मैं प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका के समय (1917-1919) फ्रांस के पेरिस तथा अन्य कई शहरों में रहा। उन दिनों मैं अपने फ्रांसीसी मित्रों से प्रायः कहा करता था "तुम्हारा नैपोलियन एक जिन्न था"। वे मेरी इस बात को पसन्द नहीं करते थे क्योंकि सामान्य फ्रांसीसी की दृष्टि में नैपोलियन युद्ध-विद्या के क्षेत्र में एक महान नायक तथा प्रतिभाशाली सेनापति था।

पेरिस से उन दिनों एक बहुत ही सुरुचिपूर्ण दैनिक पत्र 'पेती परीजियन' (Petit Parisien) प्रकाशित होता था। इस पत्र के सम्पादक-मंडल ने अपने पाठकों से फ्रांस के सबसे महान व्यक्ति का नाम जानना चाहा। जब मतों की गणना की गई तो लुई पास्तुर को (1822-1895), जो एक निर्धन चर्मकार का पुत्र था, एक महान फ्रांसीसी तथा मानव उपकारी के रूप में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। पास्तुर रोगों के कारणों का खोजकर्ता तथा रोगाणु सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक था। दूसरा स्थान 'ले मिजराबल' (Les Miserables), 'नात्र दाम' (Notre Dame) तथा अन्य साहित्यिक पुस्तकों के रचयिता विक्टर ह्यूगो को दिया गया। नैपोलियन बोनापार्ट को तीसरा स्थान मिला। इस तरह मानव कल्याण के हेतु किये गये अपने वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा कार्यों के कारण लुई पास्तुर को उनके देश-वासियों ने सबसे अधिक प्रतिष्ठा दी। फ्रांस ने अपने इन दो महान व्यक्तियों—लुई पास्तुर और विक्टर ह्यूगो—की प्रस्तरमूर्तियाँ पेरिस विश्वविद्यालय, सारबान, के मुख्य प्रवेशद्वार पर स्थापित करके इनके प्रति अपना सर्वोच्च सम्मान प्रदर्शित किया है।

नैपोलियन के नेतृत्व में फ्रांस ने सन् 1805 में जर्मनी पर येना (Jena) और आस्टरलिट्स (Austerlitz) स्थानों में विजय प्राप्त की थी। पराजय के बाद जर्मनी के शासकों ने जब अनुभव किया कि उनकी इस पराजय का कारण उनकी राष्ट्रीय अक्षमता थी तब उन्होंने अपनी राष्ट्रीय शिक्षा में सुधार करने का निर्णय लिया। इसके शीघ्र ही

बाद येना में एक बहुत बड़े विश्वविद्यालय की स्थापना हुई जहाँ पर 'जी० शॉट एण्ड कम्पनी' सर्वोत्तम काँच बनाती थी। जर्मनी ने 50 वर्षों से अधिक समय तक अपने अथक प्रयत्नों से अपनी शिक्षा और उद्योग में बड़ी प्रगति की और फलस्वरूप सम्पूर्ण राष्ट्र की कार्य-कुशलता का स्तर ऊँचा उठा। इसी का यह परिणाम था कि फ्रैंको-प्रशियन युद्ध में (1870-71) जर्मनी ने काउण्ट ब्रिस्मार्क के नेतृत्व में फ्रांस को हराकर अपनी पिछली पराजय का बदला लिया और फ्रांस से एक बहुत बड़ी धनराशि क्षतिपूर्ति के रूप में वसूल की। जर्मनी ने इस धनराशि का उपयोग चार्लोटनबर्ग, बर्लिन, में सन् 1876 में एक तकनीकी विश्वविद्यालय की स्थापना में किया। अपने राष्ट्र की इस पराजय से लुई पास्तुर को अतीव दुख हुआ और उसने जर्मनी द्वारा कुछ समय पूर्व प्रदत्त डाक्टरेट की मानद उपाधि वापस कर दी। यह उपाधि उसे मानव-सेवा के उपलक्ष्य में जर्मनी ने दी थी। इस निराशामय समय में भी लुई पास्तुर ने अपने छात्रों को पुस्तकालय तथा प्रयोगशाला के शान्तिमय वातावरण में रहकर राष्ट्र के विकास और उन्नति के लिये ज्ञानार्जन करने की ही बराबर प्रेरणा दी।

लुई पास्तुर प्राय: कहा करता था कि "प्रयोगशालायें वे मन्दिर हैं जहाँ मनुष्य अपनी नैतिक और भौतिक उन्नतियाँ करता है और अपने राष्ट्र को वैभवशाली बनाता है"। पास्तुर का समस्त प्रखर जीवन विज्ञान की उन्नति तथा उसके द्वारा मानव के कल्याण-कार्य में लगा रहा। अत: यह उचित ही था कि इस संसार से उसके प्रयाण के कुछ ही दिनों पूर्व उसके प्रति सम्मान-प्रदर्शन हेतु फ्रांसवासियों ने एक बड़ी धनराशि एकत्रित की और पेरिस नगर में एक बहुत बड़ा अन्वेषण संस्थान (पास्तुर संस्थान के नाम से) स्थापित किया जिसका मुख्य उद्देश्य वैज्ञानिक अन्वेषणों और खोजों द्वारा पीड़ित मानव की सहायता करना था और आज भी है। अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान के क्षेत्र में मानव की सहायता के लिए किया गया यह महान प्रयास है।

मात्रात्मक रसायन और शरीर-क्रिया विज्ञान के प्रमुख संस्थापक **लैवोजिएर** (1743-1794) ने फ्रांसीसी गणराज्य के समर्थकों द्वारा फांसी पर लटकाये जाने के कुछ ही समय पूर्व निम्नलिखित अविस्मरणीय पंक्तियाँ लिखी थीं जो विज्ञान के महत्व को और उसके प्रति उसके विश्वास को प्रदर्शित करती हैं:—

"हम इस संस्मरण को एक आशावान विचार के साथ समाप्त करना चाहेंगे। मानव के कल्याण तथा अपने राष्ट्र के यश के लिये केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि हम साम्राज्यों के पुनर्जीवन तथा उनके संगठन में भाग लें। वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला के एकान्त में बैठकर अपने अध्ययन से भी देशभक्ति के कार्य कर सकता है। वह अपने कार्यों द्वारा मानव जाति को त्रस्त करने वाले बुरे कार्यों को कम करने तथा उल्लास और सुख को बढ़ाने की आशा कर सकता है। यदि वह अपने नवीन मार्ग से, जो उसे विज्ञान ने

दिया है, मनुष्य की औसत आयु कुछ वर्ष या कुछ दिनों के लिए ही बढ़ा सके, तो वह मानवता के मसीहा की उपाधि लेने की आकांक्षा कर सकता है'' ।

यह विश्व के वैज्ञानिकों के लिए महान संदेश है ।

महान जर्मन कार्बनिक रसायनज्ञ तथा जर्मनी में रसायन की शिक्षा और उद्योग का संस्थापक **बेरॉन जस्टस वॉन लीबिग** (1803-1873) पेरिस में कार्य कर रहे कुछ वैज्ञानिकों के समूह में सन् 1822 में सम्मिलित हुआ था । वह एक अत्यन्त मेधावी प्राध्यापक था । उसने प्रयोगों द्वारा रसायन विज्ञान की शिक्षा देने का सूत्रपात किया और सर्वप्रथम स्वयं जर्मनी के गीसेन विश्वविद्यालय में इस पद्धति से पढ़ाना आरम्भ किया । रासायनिक उर्वरक उद्योग के विचार को भी लीबिग ने ही जन्म दिया ।

शिक्षक के रूप में लीविग अद्वितीय था । आरम्भ से ही लीबिग प्रत्येक छात्र पर स्वयं ध्यान देता था और उसका मार्ग-प्रदर्शन करता था । उसने रसायनशास्त्र की शिक्षा देने की एक विशिष्ट प्रणाली स्थापित की थी और यह प्रणाली जर्मनी की सभी शिक्षा संस्थाओं में अपनाई गई । आज विश्व के अधिकांश संस्थानों में भी इसी शिक्षा-प्रणाली का प्रचलन है ।

लीबिग एक सामान्य शिक्षक मात्र ही नहीं था, वह स्वयं रसायन विज्ञान के नये विचारों का जन्मदाता था । अपने विचारों से उसने अपने प्रगतिशील शिष्यों को अवगत कराया और उन्हें प्रयोगों द्वारा इन विचारों की पुष्टि करने की प्रेरणा दी । इस प्रकार लीबिग ने न केवल अपने शिष्यों को प्रयोगों द्वारा रासायनिक समस्याओं को सुलझाने की विधि बतलाई अपितु उन्हें स्वयं सोचकर नये विचारों को प्रस्तुत करने की प्रेरणा भी दी । इसके साथ ही लीबिग ने अपने प्रायोगिक व्याख्यानों को एक नया रूप और अर्थ प्रदान किया और इस प्रकार उसने वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र में एक उच्च स्तर स्थापित किया । उसके पास विभिन्न देशों से विद्यार्थी आते थे । उनमें से बहुतों ने अपने गुरू की विचारधारा का अपने अपने देशों के विश्वविद्यालयों, पालीटेक्निक संस्थानों तथा तकनीकी विद्यालयों में प्रचार-प्रसार किया । उसके छात्रों की लम्बी सूची में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं :— ए० डब्ल्यू० वी० होफमान, स्ट्रेकर, फ्रेजीनियस, विल, एच० बफ, स्कोलैमबर्जर, राकलेडर, श्लाइपर, शेरर, रेडटेनहैकर, वी० बिब्रा, वारनट्रॉप, टामस पोलेक, मुसप्राट, स्टेनहाउस, ब्रॉडी, गरहार्ड, विलियमसन, वुर्ट्ज, फ्रैंकलैंड और वोल्हार्ड । लीबिग के अंग्रेज छात्रों ने और विशेषकर लार्ड प्लेफेयर, मुसप्राट, स्टेनहाउस, ब्रॉडी, विलियमसन, सर एडवर्ड फ्रैंकलैंड और सर गिल्बर्ट ने इंगलैंड में रसायन शास्त्र के उत्थान और विकास में बड़ा योगदान दिया । सर गिलबर्ट ने कृषि के क्षेत्र में रॉथैम्स्टेड (इंगलैंड) में सैद्धान्तिक अनुसंधान किये ।

फ्रैंको-प्रशियन युद्ध के समय जब फ्रांस और जर्मनी बड़ी कटुता से परस्पर युद्ध कर रहे थे तब लीबिग ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये थे, जो उसके हृदय की उच्चता और पेरिस में अपने ऊपर अध्यापकों के पड़े प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं—

"मैं कभी अरागो, ड्यूलाँग तथा थेनार्ड जैसे फ्रांसीसी शिक्षकों की कृपा को नहीं भूल सकूँगा जो उन्होंने अपने जर्मन विद्यार्थियों के प्रति दिखलाई है। मेरे जैसे न जाने कितने ही जर्मनी के छात्र, चाहे वे चिकित्सा, भौतिक विज्ञान या अन्य क्षेत्र के विद्यार्थी रहे हों, फ्रांस के विद्वानों के आभारी हैं जिन्होंने उनके विषय-क्षेत्रों में उनका मार्गदर्शन किया। उच्च और श्रेष्ठ विचारों के प्रति गहरी आस्था तथा आतिथ्य का बाहुल्य फ्रांसवासियों के चरित्र की प्रमुख विशेषता रही है"।

विज्ञान का दुरुपयोग

विज्ञान व्यवस्थित ज्ञान है और ज्ञान ही मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति है। अत: जो राष्ट्र विज्ञान में अग्रणी होते हैं वे स्वभावत: शक्तिशाली और शीघ्र ही समृद्ध हो जाते हैं। मानव-इतिहास में शक्ति और समृद्धि का उपयोग प्राय: लोगों को हानि पहुँचाने के लिए किया गया है। यह एक बहुत ही दुखद बात है।

सर विलियम क्रुक्स ने 'ब्रिटिश एशोसियेशन' के अपने अध्यक्षीय भाषण में सन् 1898 में नाइट्रोजन-उद्योग की स्थापना के उपयोगी पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए इस बात पर बल दिया था कि इसके द्वारा उत्पादित पदार्थ खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि करेंगे। किन्तु जैसे ही सहयोगियों के साथ उसने अमोनिया का संश्लेषण करके उसे नाइट्रिक एसिड में परिवर्तित कर दिया (जिसका उपयोग शक्तिशाली विस्फोटक बनाने में होता है) वैसे ही जर्मन हाईकमाण्ड और वहाँ के सम्राट विलियम कैसर द्वितीय ने प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) ठान दिया।

इसी प्रकार जब प्रोफेसर बर्गियस के प्रयत्नों से कोयले के हाइड्रोजनीकरण द्वारा संश्लेषित पेट्रोल बनाया गया तो हिटलर ने दूसरा विश्व-युद्ध आरम्भ कर दिया जिसका परिणाम न केवल हिटलर का विनाश था वरन् जर्मन राष्ट्र का भी आंशिक विनाश रहा।

नाभिकीय ऊर्जा का भी सर्वप्रथम उपयोग किसी मानव कल्याणकारी कार्य के लिए न करके नागासाकी तथा हिरोशिमा नगरों में जापानियों पर परमाणु बम गिराकर किया गया। प्रोफेसर हेनरी बेकेरल ने पेरिस स्थित अपनी प्रयोगशाला में यह ज्ञात किया था कि एक खनिज जिसमें 238 औसत परमाणुभार वाला यूरेनियम उपस्थित रहता है ऐसे विकिरण निकालता है जो वायु का आयनीकरण कर देते हैं, तथा विद्युत् संचालित स्वर्णपत्र विद्युत्दर्शी (Goldleaf Electroscope) को विद्युत् मुक्त कर देते हैं। फिर उनकी सहायक मेरी क्यूरी ने यह ज्ञात किया कि कुछ ऐसे खनिज हैं जो यूरेनियम की मात्रा से अपेक्षाकृत कम होने पर भी (उन खनिजों की अपेक्षा जिनमें यूरेनियम की मात्रा अधिक रहती है), वायु का आयनीकरण अधिक करते हैं। क्यूरी ने एक नई प्रक्रिया की कल्पना की जिसे रेडियोऐक्टिवता (Radio-activity) कहा गया। उसने यह भी विचार व्यक्त किया कि यह प्रक्रिया यूरेनियम के अतिरिक्त अन्य तत्वों में भी पाई जा सकती है। मैडम क्यूरी पोलैण्ड

की मूल निवासिनी थी। उसका बिवाह फ्रांस के प्रोफेसर पियरे क्यूरी के साथ हुआ था। अपने पति की सहायता से आस्ट्रिया से प्राप्त टनों पिचब्लेंड (Pitch-blende) नामक खनिज का अध्ययन किया और उसमें उपस्थित विभिन्न तत्वों को पृथक किया। इस तरह मैडम क्यूरी ने पिचब्लेंड से रेडियम तथा पोलोनियम तत्वों को अल्पमात्रा में प्राप्त किया और देखा कि ये तत्व यूरेनियम की अपेक्षा अधिक प्रबल रेडियोऐक्टिव थे।

अंग्रेज वैज्ञानिक प्रोफेसर लार्ड रदरफोर्ड ने यह सिद्ध किया कि भारी तत्व थोरियम भी जिसका परमाणु भार 232 है, एक रेडियोऐक्टिव तत्व है। रेडियोऐक्टिवता तथा रेडियम की खोज के लिए नोबेल समिति ने सन् 1903 में भौतिकी पर दिये जाने वाले नोबेल पुरस्कार की आधी राशि प्रोफेसर बेकेरल को तथा आधी राशि प्रोफेसर पियरे क्यूरी को देना चाहा, किन्तु प्रोफेसर पियरे क्यूरी ने तत्काल ही नोबेल समिति को लिखा कि रेडियम की खोज तथा उसका पृथक्करण एक सहप्रयत्न था और वास्तव में इस खोज में मैडम क्यूरी का योगदान अधिक था। तब समिति ने नोबेल पुरस्कार की आधी राशि प्रोफेसर पियरे क्यूरी और मैडम क्यूरी को सम्मिलित रूप से प्रदान की। पियरे क्यूरी का स्वर्गवास सन् 1906 में पेरिस में सड़क की एक दुर्घटना में हुआ। पेरिस विश्वविद्यालय ने मैडम क्यूरी को उसका उत्तराधिकारी चुना और सारबान में सामान्य भौतिकी का प्राध्यापक नियुक्त किया।

इस प्रकार मैडम क्यूरी का जो कि जन्म से पोलैण्डनिवासिनी थी, किन्तु जिसने पेरिस में शिक्षा प्राप्त की थी, एक यशस्वी बौद्धिक जीवन आरम्भ हुआ। उसकी मृत्यु सन् 1936 में रेडियोऐक्टिव विकिरणों के सम्पर्क में आने से हुई। मैंने प्रथम विश्वयुद्ध के समय में मैडम क्यूरी की प्रयोगशाला में काम किया था। उन दिनों मैंने उन्हें सदा मोटर-गाड़ियों में एक्स-किरण यंत्र लगाने में व्यस्त देखा जिसका उपयोग फ्रांसीसी सैनिकों के शरीरों में प्रविष्ट गोलियों को ढूंढने में किया जाता था।

यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि एक्स-किरणों की खोज महान जर्मन भौतिकीविद् रांजन ने की और इस खोज के लिए भौतिकी का प्रथम नोबेल पुरस्कार उन्हें ही सन् 1901 में दिया गया। एक्स-किरणें रेडियो-ऐक्टिव पदार्थों से निकलने वाली गामा किरणों से मिलती-जुलती हैं और इनका बड़ा व्यावहारिक उपयोग है। फ्रांस के शासन ने मैडम क्यूरी द्वारा किये गये महत्वपूर्ण अन्वेषणों के लिये आजीवन एक बड़ी पेंशन स्वीकृत की। उसके देहान्त के बाद यह पेंशन उसकी पुत्री आइरीन को दी गई जिसने एक भौतिकीविद् जोलियो से विवाह किया। इन दोनों ने सम्मिलित रूप से कृत्रिम रेडियोऐक्टिवता की खोज की और उन्हें इस खोज पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। दुर्भाग्यवश पति-पत्नी दोनों की मृत्यु रेडियोऐक्टिव विकिरणों के साथ काम करने और फलस्वरूप इन किरणों के प्रभाव के कारण अल्पावस्था में हो गई। उन आरम्भिक दिनों में इन विकिरणों के हानिकारक प्रभाव की जानकारी नहीं हो पाई थी। आजकल रेडियोऐक्टिव पदार्थों और एक्स-

किरणों से बचाव के लिए सीसा धातु की चद्दरें तथा कुछ अन्य चीजों का उपयोग किया जाता है। रेडियोऐक्टिव पदार्थ ऐल्फा, बीटा तथा गामा विकिरण निकालते हैं जो शरीर की कोशिकाओं पर हानिकारक प्रभाव डालते हैं। सीसा इन विकिरणों को रोकता है।

मैडम आइरीन जोलियो क्यूरी सन् 1950 में 'विज्ञान कांग्रेस' में भारत आईं और उसी अवसर पर कलकत्ते में चितरंजन सेवा सदन में शीलाधर नर्सेज क्वार्टर्स की आधार-शिला रखी। इस भवन में सौ कमरे हैं और यह मेरे (प्रोफेसर नीलरत्न धर) द्वारा अपनी स्वर्गीया पत्नी शीलादेवी की स्मृति में दी गई एक लाख रुपये की दानराशि से बनाया गया है। शीला देवी की मृत्यु जनवरी 1949 में कैंसर रोग से हुई थी।

रेडियोऐक्टिवता तथा एक्स-किरणों की खोज के बाद संसार भर में इन पर सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक कार्य किये गये और फलस्वरूप बहुत से नये तथ्य ज्ञात हुए। इंगलैंड में प्रो० रैमजे ने ज्ञात किया कि रेडियम से निकले ऐल्फाकण हीलियम बनाते हैं अर्थात् रेडियम एक अन्य तत्व हीलियम उत्पन्न करता है। हीलियम एक हल्की गैस है जो वायु में अत्यधिक न्यून मात्रा में पाई जाती है। बाद में यह प्रमाणित किया गया कि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में कुछ तत्वों से न्यूट्रान कण निकलते हैं। न्यूट्रान विद्युत् आवेशित नहीं होते और ये एक प्रकार से हाइड्रोजन परमाणु हैं। यूरेनियम-235 यूरेनियम का ही एक आइसोटोप है और साधारण यूरेनियम में इसकी मात्रा लगभग 0.7 प्रतिशत होती है। यूरेनियम के इस आइसोटोप को न्यूट्रान द्वारा बमबारी करके विखंडित किया जा सकता है। इस विखण्डन क्रिया में निम्नलिखित समीकरण के अनुसार अत्यधिक ऊर्जा निकलती है :—

ऊर्जा (E) = विखंडित यूरेनियम की मात्रा $\times C^2$ जहाँ C = प्रकाश का वेग

सर्वप्रथम सन् 1938 में जर्मन भौतिकीविद् प्रो० ओटो हान और उसकी सहयोगी लिजे माइटनर ने बर्लिन-स्थित कैसर विलियम संस्थान में यूरेनियम-235 को विखंडित करने में सफलता प्राप्त की। प्रो० हान ने इंगलैंड में प्रो० रैमजे से प्रशिक्षण प्राप्त किया था। लिजे माइटनर एक जर्मन यहूदी महिला थी। जब हिटलर ने युद्ध आरम्भ किया तब जर्मनी में वहाँ रहने वाले यहूदी या तो मौत के घाट उतार दिये गये या वे जर्मनी छोड़कर विदेशों में भाग गये। लिजे माइटनर वायुयान से स्टाकहोम चली गई। स्टाकहोम जाते समय वह कोपेनहेगन में रुकी और प्रसिद्ध परमाणुवैज्ञानिक नील्स बोर से मिली। माइटनर ने उसे ओटो हान और अपने द्वारा नाभिकीय ऊर्जा पर की गई खोज से अवगत कराया। नील्स बोर भी एक यहूदी था। उसे हिटलर द्वारा डेनमार्क पर अधिकार कर लेने पर डेनमार्क छोड़ना पड़ा था और वह न्यूयार्क चला गया था जहाँ पहले से ही विश्व-विख्यात भौतिकीगणितज्ञ प्रो० अलबर्ट आइन्स्टाइन रह रहा था। इन दोनों में परस्पर

नाभिकीय ऊर्जा के सम्बन्ध में बातचीत हुई और दोनों ही इस बात से पूरी तरह सहमत हो गये कि नाभिकीय ऊर्जा से अत्यधिक शक्तिशाली बम का निर्माण किया जा सकता है।

आइन्स्टाइन ने यह बात पत्र द्वारा राष्ट्रपति रूजवेल्ट को बतलाई और सुझाव दिया कि इस कार्य को तुरन्त आरम्भ किया जाय। रूजवेल्ट ने इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री विन्स्टन चर्चिल से परामर्श किया। चर्चिल ने एक सच्चे यथार्थवादी अंग्रेज के समान रूजवेल्ट को तुरन्त उत्तर दिया कि उसके पास इस कार्य में आर्थिक सहायता करने के लिए धन तो नहीं है किन्तु वह अपने देश के प्रमुख गणितज्ञों, भौतिकीविदों, रसायनविदों तथा परमाणु विज्ञान-विदों की सेवायें उसे प्रदान कर सकता है। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका में यह महत्वपूर्ण कार्य मुख्यत: जर्मनी और यूरोप से भागे हुए और अमेरिका में बसे यहूदी वैज्ञानिकों तथा इंगलैंड, अमेरिका और फ्रांस के प्रमुख वैज्ञानिकों के सम्मिलित प्रयत्नों से आरम्भ किया गया।

कई वर्षों की खोज के फलस्वरूप अन्त में ये वैज्ञानिक एक ऐसा परमाणु बम बनाने में सफल हुये जो उस समय तक ज्ञात तीव्रतम विस्फोटक बमों से कई लाख गुना शक्तिशाली था। इस बम का परीक्षण अमरीकी न्यूमेक्सिको के रेगिस्तान में किया गया। यह सोचकर दु:ख होता है कि ऐसे दो परमाणु बम सन् 1945 में जापानियों पर गिराये गये परन्तु जर्मनी में, जिसने युद्ध आरम्भ किया था, ऐसा कोई बम नहीं गिराया गया। श्वेत लोगों ने पीले जापानियों को नष्ट कर देना चाहा किन्तु इन्हीं श्वेतों ने अपने समान श्वेत हिटलर और उसके देशवासियों पर परमाणु बम का प्रयोग नहीं किया। आखिर क्यों?

प्रो० ओटो हॉन एक सच्चा जर्मन था। उसने सन् 1939 में हिटलर से भेंट की और उसे अपनी खोज से अवगत कराया और बतलाया कि इस खोज का उपयोग एक अत्यन्त विनाशकारी बम बनाने में किया जा सकता है। हिटलर ने उससे पूछा, "इस बम के निर्माण में कितना समय लगेगा? क्या इस कार्य को पूरा करने में छ: माह की अवधि पर्याप्त होगी?" प्रो० हॉन एक सच्चा और सावधान प्रकृतिविज्ञानी था। उसने इस विधि की जटिलता और तकनीकी कठिनाइयों को ध्यान में रखकर बतलाया कि यह कार्य छ: माह से अधिक समय लेगा। हिटलर उसके इस उत्तर से क्रोधित हो उठा और चिल्लाकर बोला, "निकल जाओ। तुम अच्छे वैज्ञानिक नहीं हो, क्योंकि किसी भी महत्वपूर्ण खोज के लिए छ: माह का समय पर्याप्त होता है"। अत: ओटो हॉन अपने देशवासियों की सहायता कर सकने में असमर्थ रहा।

नागासाकी और हिरोशिमा के निर्दोष पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों का संहार कर यह युद्ध समाप्त हुआ। इस घटना के बाद संसार ने परमाणु बम के भयंकर परिणाम का

अनुभव किया और तब वैज्ञानिकों ने इस विशाल ऊर्जा के स्रोत का उपयोग मानवोपयोगी विद्युत् उत्पन्न करने के सम्बन्ध में विचार किया। फलस्वरूप परमाणु ऊर्जा केन्द्रों की स्थापना उन्नत देशों में आरम्भ हुई और भारत तथा अन्य राष्ट्रों ने भी इसका अनुसरण किया। परमाणु बम का निर्माण सम्पूर्ण मानवता के विरुद्ध एक बड़ा अपराध माना जायेगा।

संसार के उन्नतिशील राष्ट्रों का प्रथम ध्येय सदा से युद्ध में अपने शत्रुओं को पराजित और नष्ट करना ही रहा है चाहे वह नाइट्रोजन उद्योग द्वारा हो या परमाणु ऊर्जा उद्योग द्वारा। इन ऊर्जा स्रोतों का उपयोग मानव-कल्याण की दिशा में करने का विचार सदा गौण रहा। नाइट्रोजन उद्योग तथा परमाणु विखंडन से उत्पादित नाभिकीय ऊर्जा उद्योग बहुत मँहगे हैं क्योंकि इनमें जितना धन लगाया जाता है उसके अनुपात में ऊर्जा कम प्राप्त होती है। साथ ही सभी राष्ट्र सामान्य यूरेनियम को ऐसे यूरेनियम में परिवर्तित करने की तकनीक जिसमें यूरेनियम-235 की प्रतिशत मात्रा अधिक हो, या थोरियम से प्लूटोनियम बनाने की तकनीक भी नहीं जानते।

औद्योगिक रूप से उन्नत राष्ट्र रहन-सहन के अपने वर्तमान उच्चस्तर को प्राप्त करने के बाद भी अधिक धनी होना चाहते हैं और इस हेतु मानव विनाश के नये नये अस्त्रों का निर्माण कर और उन्हें पिछड़े राष्ट्रों के हाथ बेचकर बड़ा धन अर्जित करते हैं। इस प्रकार ये राष्ट्र पूर्णत: विज्ञान तथा उसकी सृजनात्मक शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। निस्संदेह औद्योगीकरण द्वारा अपने राष्ट्र को धनी और वैभवशाली बनाना अच्छी बात है किन्तु संसार के वैज्ञानिकों और राष्ट्रों के नेताओं को यह नैतिक निर्णय करना चाहिए कि किसी वैज्ञानिक खोज का दुरुपयोग मानव-विनाश के लिए किसी प्रकार भी नहीं किया जायगा। अत: उन्नतिशील राष्ट्रों को अपनी नैतिकता को ऊँचा उठाना होगा अन्यथा विश्व में दरिद्रता का साम्राज्य फैलेगा और मानव का विनाश हो जायगा।

रहन-सहन के उच्च स्तर का एक पक्ष और भी है। समृद्धि के साथ साथ राष्ट्र अपना नैतिक दृष्टिकोण खो देते हैं जिससे सभ्यता का ह्रास होने लगता है। यह विचार इंगलैंड के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता ए० जे० टोयनबी ने व्यक्त किया है। उसने विश्व की 21 बड़ी सभ्यताओं का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकला है कि "सांसारिक सफलता के समान दूसरी कोई असफलता नहीं है"।

विश्व में संघर्ष की स्थिति और अशान्ति

हम यह कह सकते हैं कि वियतनाम के युद्ध की समाप्ति के बाद संसार में ऐसी कोई लड़ाई नहीं हुई है जिसे युद्ध कहा जा सके किन्तु वास्तविक शान्ति अभी भी बहुत दूर है और युद्ध की संभावनायें मनुष्य को त्रस्त किये हुये हैं। यद्यपि इस समय पूर्ण युद्ध कहलाने वाली परिस्थितियाँ भले ही न हों, पर संसार में जगह जगह सशस्त्र हिंसात्मक

प्रवृत्ति फैली हुई है। इसके दो उदाहरण हमारे सामने हैं—पश्चिम एशिया और कोरिया जहाँ युद्ध केवल रुका हुआ है किन्तु युद्ध की स्थिति बनी हुई है।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से ही (केवल सन् 1920 के बाद के कुछ वर्षों को छोड़ कर) पृथ्वी पर कहीं न कहीं युद्ध चलता ही रहा है। सन् 1931 में मंचूरिया पर जापान के आक्रमण से चीन-जापान के संघर्ष का आरम्भ हुआ। इसके पश्चात् इथोपिया पर इटली का आक्रमण, स्पेन का गृहयुद्ध जिसमें विदेशी कम्युनिस्ट और फासिस्ट सेनाओं का हस्तक्षेप भी रहा, फिर रूस और फिनलैण्ड का युद्ध तथा अन्त में द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त भी नहीं हो पाया था कि ग्रीस में गृहयुद्ध आरम्भ हो गया और चीन में कम्युनिस्टों तथा च्यांग-काई-शेक के बीच के आंतरिक संघर्ष ने युद्ध का रूप ले लिया। इसके बाद फ्रांस का इंडोचीन में सात वर्षों तक तथा उत्तरी अफ्रीका में आठ वर्षों तक और इसके साथ पश्चिमी एशिया में चार बार और अन्त में वियतनाम में अमेरिका द्वारा युद्ध हुआ।

किसी देश में छापामार गतिविधियाँ बाहरी शक्तियों के उकसाने और उनकी सहायता से चलती हैं। थाईलैंड की शान्ति के लिये अभी भी गम्भीर खतरा बना हैं। थाईलैंड ही दक्षिण-पूर्व एशिया का एक अकेला ऐसा देश है कि वह अभी तक किसी दूसरे राष्ट्र का उपनिवेश बनने से बचा है। कोई भी दक्षिण-पूर्व एशिया का राष्ट्र सैनिक संघर्ष से बच नहीं पाया है और अधिकांश राष्ट्रों में सैनिक संघर्ष भड़कने की सम्भावनायें बराबर बनी हुई हैं।

भारत और पाकिस्तान में परस्पर तीन युद्ध हुए जिनमें से अंतिम युद्ध के परिणाम-स्वरूप बँगला देश का जन्म हुआ।

मलाया प्रायद्वीप में छापामार गतिविधियाँ सिर उठाने लगी थीं, जिसे मलेशिया और सिंगापुर के स्वतंत्र राष्ट्रों की स्थापना के पूर्व ब्रिटिश शासकों ने दबा दिया था। कई प्रकार के वामपंथी राजनैतिक छापामार बर्मा, भारतवर्ष और आसाम प्रदेश में छापामार गतिविधियों को प्रोत्साहित करते हैं। सन् 1965 में इंडोनेशिया में सैनिक विद्रोह के असफल होने के कारण वह साम्यवादी शासकों के अधिकार में आने से बाल-बाल बचा। साम्यवादियों द्वारा फिलिपीन्स में भी उपद्रव हो चुके हैं और इस समय वहाँ मुसलमानों का विद्रोह फैला हुआ है।

यूरोप के साइप्रस देश में काफी समय तक वहाँ के मूल ग्रीकनिवासी और तुर्क लोगों के बीच हिंसा का वातावरण बना रहा और पिछले वर्ष ग्रीस और तुर्किस्तान के बीच इसी कारण युद्ध होते होते बचा। अब भी इस समस्या का कोई ठोस समाधान नहीं

हो पाया है और यह उत्तर अटलांटिक संधि संगठन के दक्षिण-पूर्वी आधार को प्रभावित कर रहा है।

कई शताब्दियों की आपसी कलह के कारण उत्तरी आयरलैंड में आन्तरिक लड़ाई और अशान्ति का वातावरण अभी भी चला आ रहा है।

अफ्रीका में अशान्ति

अफ्रीका के कुछ भागों के स्वतंत्र होने के बाद से वहाँ बराबर उपद्रव हो रहे हैं। स्वतंत्रता ने कांगो, सूडान और अन्य भागों में अशान्ति और झगड़े उत्पन्न कर दिये। रोडेशिया में बहुसंख्यक अश्वेत निवासियों के आन्दोलन के फलस्वरूप उनका राष्ट्र अब स्वतंत्र हो गया है। वहाँ के पुर्तगाली उपनिवेशों को स्वतंत्र कराने में छापामार युद्धों ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई। पर अब ये छापामार इन स्थानों पर अपना-अपना अधिकार जमाने के लिये आपस में युद्ध कर रहे हैं।

इथोपिया ने जो बहुत पहले ही स्वतंत्र हो गया था, अपने राजा को देश से निकाले जाते देखा। राजा के निष्कासन के बाद अपना अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए यहाँ विभिन्न गुटों में परस्पर युद्ध होने लगा। दूसरी ओर दक्षिण अमेरिका छापामारों की हिंसात्मक गतिविधियों से चिन्तित है और अर्जेण्टीना में कोई भी सप्ताह बिना रक्त-प्रवाह के नहीं बीतता। क्यूबा में सन् 1959 की साम्यवादी विजय के उपरान्त ही दक्षिण अमेरिका के देशों में छापामारों की गतिविधियाँ आरम्भ हुईं और अब तक चल रही हैं।

अनुभव यही बताता हैं कि संसार के अधिकांश भागों में आज भी दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। शक्तिशाली बड़े राष्ट्रों के हस्तक्षेप का भय अफ्रीका के इन देशों में अभी भी बना हुआ है।

अस्त्र-शस्त्र की होड़

यह एक चिन्ता की बात है कि राष्ट्रों में अपने को अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित करने की होड़ दिन पर दिन अधिक बढ़ती जा रही है। "स्टाकहोम अन्तर्राष्ट्रीय अन्वेषण संस्थान" की छठी वार्षिक पुस्तिका में दिये आँकड़ों के अनुसार सन् 1974 में शस्त्रों के ठेकों और विक्रय पर दो लाख दस हजार मिलियन डालर से भी अधिक व्यय किया गया। संसार के प्राय: सभी देशों द्वारा अपनी अपनी सेनाओं के व्यय सम्बन्धी बजट में वृद्धि करने के कारण ही अस्त्र-शस्त्रों के व्यापार में तीव्रता आई। सन् 1951 में छ: विकसित देशों—अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और जापान—का रक्षा सम्बन्धी व्यय 66.75 बिलियन डालर था। यह व्यय सन् 1961 में बढ़कर 98.28 बिलियन डालर और सन् 1971 में 154.44 बिलियन डालर हो गया। संसार के सब देशों का सम्मिलित रक्षा

सम्बन्धी व्यय जो सन् 1961 में 120 बिलियन डालर था, बढ़कर सन् 1974 में 240 बिलियन डालर हो गया। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि 14 वर्षों के बीच विश्व का रक्षा-व्यय दूना हो गया है जबकि इसी अवधि में विश्व के कुल उत्पादन और मानव कल्याणकारी सेवाओं में केवल 6.4 प्रतिशत की ही बढ़ोत्तरी हो पाई है।

अस्त्र-शस्त्र के व्यापार को रोकने और सीमित रखने तथा निर्धन देशों की सहायता करने का उत्तरदायित्व विशेष रूप से उन्नतिशील देशों का है। सन् 1974 के अनुसार उस वर्ष विकासशील देशों को दी गई आर्थिक सहायता की राशि से अस्त्र-शस्त्रों के ठेकों की राशि 15-20 गुना अधिक थी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चल रही शस्त्रों की होड़ में मुख्य दृष्टिकोण राजनैतिक है आर्थिक नहीं। इसमें एक आर्थिक व्यवस्था का दूसरी से श्रेष्ठता का प्रश्न नहीं है। वास्तव में यह शक्तिशाली राष्ट्रों का पूरे संसार में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए किया जाने वाला शक्ति-संघर्ष है। इसी कारण जब साम्यवादी देशों या पश्चिमी देशों के नेतागण विश्व में शान्ति की स्थापना के लिए निःशस्त्रीकरण की बात करते हैं किन्तु साथ ही अस्त्र-शस्त्र एकत्रित करते जाते हैं तब संसार के निर्धन देशों के भूखे लोगों को उन पर और उनकी शान्ति सम्बन्धी घोषणाओं पर विश्वास कैसे हो सकता है?

सोवियत साम्यवादी दल के प्रमुख श्री ब्रेजनेव ने चेतावनी दी है कि संसार को अब नाभिकीय शस्त्रों से भी भयंकर शस्त्रों का सामना करना होगा। ऐसा लगता है कि उनका संकेत हाइड्रोजन बम के निर्माण से है जो परमाणु बम से भी कई गुना विनाशकारी है। यदि यह सत्य है तो यह और भी अधिक आवश्यक है कि "स्टाकहोम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति अन्वेषण संस्थान" (Stockholm International Peace Research Institute) द्वारा दी गई इस चेतावनी पर ध्यान दिया जाय कि जब तक नये अस्त्र-शस्त्रों के विकास में लगे अनुसंधान-उद्योगों पर अंकुश नहीं लगाया जायेगा तब तक अस्त्र-शस्त्रों की यह होड़ कभी समाप्त नहीं हो पायगी। किन्तु यह तब तक संभव नहीं है जब तक संसार के देशों के बीच परस्पर विश्वास की भावना नहीं उत्पन्न होती। यह तभी सम्भव है कि जब राष्ट्रों द्वारा 'सह-अस्तित्व के सिद्धान्त' को स्वीकार किया जाय। तब राष्ट्र संघ और अन्य संस्थाओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को प्रभावकारी रूप में निपटाना सरल होगा। यदि ऐसा हो सके—यद्यपि इसमें अभी बड़ा सन्देह है—तो अस्त्र-शस्त्रों पर होने वाले व्यय को विकास के कार्यों में लगाया जा सकता है।

इंगलैंड के भूतपूर्व रक्षामंत्री विलियम रोजर्स (William Rodgers) के अनुसार संसार के देशों के बीच अपने अपने को अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित करने की होड़ लगी हुई है परन्तु इसके साथ ही एक दूसरी होड़ इन विकसित राष्ट्रों के बीच अपने यहाँ बने शस्त्रों को विकासशील राष्ट्रों के हाथ बेचने की भी लगी है। इस होड़ में इंगलैंड का स्थान अमेरिका तथा रूस के पश्चात् तीसरा और फ्रांस का चौथा है।

नाभिकीय सर्वनाश की दिशा में

जब तक विश्व भर में सेना के व्ययों में कटौती नहीं होती विश्व का सर्वनाश अवश्यम्भावी है। "स्टाकहोम शान्ति अन्वेषण संस्थान" की इस चेतावनी को संसार में बढ़ रही अस्त्र-शस्त्रों की होड़ के बड़े-बड़े आँकड़ों से पुष्टि मिलती है। यह चेतावनी इस संस्थान की छठी वार्षिक पुस्तिका में दी गई है और यह चेतावनी है कि परमाणु बम तथा हाइड्रोजन बम जैसे विनाशकारी हथियारों के बनाने की तकनीकी की जानकारी अनेक राष्ट्रों को हो जाने के कारण विश्व के सर्वनाश की ओर शीघ्रता से बढ़ने का भय अधिक हो गया है कारण कि नाभिकीय तकनीकी का प्रचुर मात्रा में विस्तार हुआ है। यह तकनीकी आवश्यकता पड़ने पर सैनिक क्षेत्रों में भी उपयोग की जा सकती है। यद्यपि इन समझौतों की भावना ऐसी न भी रही हो फिर भी इनसे भूमध्यसागर, भारतीय उपमहाद्वीप तथा पूर्वी एशिया के देशों में एक नया राजनैतिक सैनिक विस्तार उत्पन्न हो गया है।

विकासशील राष्ट्रों में नाभिकीय शस्त्रों की होड़ के विस्तार को रोकने और सामान्य रूप से राष्ट्रों के निःशस्त्रीकरण की नीति को प्रोत्साहन देने के हेतु रूस और अमेरिका ने सन् 1970 में "नाभिकीय अप्रसार संधि (Nuclear Nonproliferation Treaty) पर हस्ताक्षर किये थे। आज इस संधि पत्र पर हस्ताक्षर करने वालों की संख्या 96 हो चुकी है। जब नाभिकीय ऊर्जा के चार नये शान्तिपूर्ण उपयोगों के सम्बन्ध में समझौता अपने अन्तिम चरण में था तब जेनेवा में 65 देशों के प्रतिनिधि जो नाभिकीय विस्तार प्रतिवंध संधि पर हस्ताक्षर करने वालों में से थे, पिछले 5 वर्षों में इस संधि के परिणाम की समीक्षा करने के लिए एकत्र हुए थे। उन सबका यह मत था कि संसार की सुरक्षा को सबसे बड़ा भय नाभिकीय शस्त्रों के प्रसार से है। यह बात भी स्वीकार की गई थी कि नागरिक प्रयोजनों के लिए नाभिकीय ऊर्जा का उपयोग करने से नाभिकीय शस्त्रों के निर्माण की तकनीक और साधनों के विस्तार में सहायता मिली है और इस पर उचित प्रतिबंधों के द्वारा नियंत्रण रखना आवश्यक है।

जेनेवा सम्मेलन ने महत्वपूर्ण प्रस्ताव इस आशय से किये कि "अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा प्राधिकरण' (International Atomic Energy Authority) द्वारा नाभिकीय पदार्थों और संयंत्रों पर समस्त संसार में नियंत्रण रखा जाय। वास्तव में इस सम्मेलन में इस माँग पर अधिक बल दिया गया कि वर्तमान नाभिकीय ऊर्जा-सक्षम देशों को नाभिकीय परीक्षणों को बन्द करने का प्रस्ताव स्वीकार करना चाहिए। सम्मेलन के पूरे अधिवेशन में इस प्रस्ताव के स्वीकार किये जाने की माँग पर बराबर चर्चा होती रही। सम्मेलन की विज्ञप्ति में इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में केवल इतना ही लिखा गया कि नाभिकीय शस्त्रों वाले राज्य शीघ्र ही इस समस्या का हल ढूंढ लेंगे।

"स्टाकहोम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति अन्वेषण संस्थान" की रिपोर्ट से यह ज्ञात होता है कि दो मुख्य शक्तिशाली गुटों के अतिरिक्त कुछ अन्य राष्ट्रों का सैनिक व्यय भी बढ़

रहा है। सन् 1974 में संसार भर के समस्त देशों का अस्त्र-शस्त्रों पर हुआ व्यय सौ बिलियन पौंड पहुँच गया था जिसमें नाटो (NATO) संधि से बँधे राष्ट्र और वारसा संधि के राष्ट्रों का भाग प्रथम बार 80 प्रतिशत से कम था, शेष 20 प्रतिशत छोटे देशों के सैनिक व्यय का था। तृतीय विश्व देशों द्वारा अस्त्र-शस्त्रों के क्रय पर व्यय एक ही वर्ष में 40 प्रतिशत बढ़ा। सन् 1974 में 25 से भी अधिक नाभिकीय विस्फोट किये गये जिनमें 20 रूस, 5 अमेरिका, 7 फ्रांस और एक-एक ब्रिटेन, चीन तथा भारत द्वारा किये गये।

आज कम से कम 20 राष्ट्र ऐसी स्थिति में हैं जहाँ उपयोगी कार्यों के लिये चलाई गई नाभिकीय योजनाओं को बड़ी सरलता से नाभिकीय विस्फोटक वनाने में परिवर्तित किया जा सकता-है।

अमेरिका के रक्षा सचिव डॉ० स्लेस्टिंगर (J. Schlestinger) ने इस संभावना की ओर संकेत किया है कि सोवियत संघ के साथ सीमित युद्ध में जिसमें केवल सैन्य स्थलों को ही लक्ष्य रखा जाये तो भी आठ लाख नागरिक मरेंगे। यदि नगर से नगर में युद्ध हुआ तो एक करोड़ लोगों के मरने की सम्भावना है। विश्व के नाभिकीय शक्तिसम्पन्न राष्ट्रों में अमेरिका, रूस, इंगलैंड, जर्मनी और फ्रांस प्रमुख हैं। इन देशों के नागरिक बहुत शिक्षित और बुद्धिमान हैं। ये राष्ट्र निर्धन देशों को अस्त्र-शस्त्र बेचकर स्वयं समृद्ध होते जा रहे हैं। अत: ये देश विश्व को नाभिकीय युद्ध में घसीटने से हिचकिचायेंगे क्योंकि संसार के सभी राष्ट्रों का हित युद्ध और विशेषकर सर्वनाशी नाभिकीय युद्ध को दूर रखने में ही है।

नाभिकीय क्षेत्र में नये राष्ट्र

नाभिकीय क्षेत्र में सक्षमता प्राप्त करने वाले चार नये राष्ट्र ब्राज़ील, पाकिस्तान, दक्षिण कोरिया और लीबिया हैं। इन चारों देशों के साथ किये गये समझौते परमाणु-ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग के लिए हैं। इन समझौतों के निर्माण की होड़ को बंद करने में नाभिकीय शस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाना सबसे महत्वपूर्ण कदम होगा। इस सम्मेलन ने यह आशा व्यक्त की कि नाभिकीय शक्तिसम्पन्न देश शीघ्र ही इस सम्बन्ध के अपने तकनीकी और राजनीतिक मतभेदों का समाधान कर लेंगे। यद्यपि यह प्रश्न बहुत महत्व-पूर्ण था फिर भी सम्मेलन में आये हुए बहुत से प्रतिनिधियों ने यह अनुभव किया कि सोवियत संघ के विरोध की स्थिति में इस प्रस्ताव में निहित विचार के सफल होने की संभावना नहीं है। इस संदर्भ में केवल यही संभव है कि सोवियत संघ और पश्चिमी देशों के बीच तनावरहित सम्बन्ध और नि:शस्त्रीकरण का समझौता हो जाय। बहुत से प्रति-निधियों को इस बात से दु:ख हुआ कि सम्मेलन में पारम्परिक नि:शस्त्रीकरण और उससे सम्बन्धित प्रश्नों, जैसे नाभिकीय क्षेत्रों की घोषणाओं पर विचार-विमर्श करने के लिए पर्याप्त समय सम्मेलन में नहीं दिया गया।

ऊर्जा की खोज

ऊर्जा की खोज नाभिकीय केन्द्र स्थापित करने का एक कारण है जिसकी स्थापना सोवियत संघ लीबिया में करने वाला है। इसकी स्थापना के साथ-साथ वह लीबिया को भारी मात्रा में अस्त्र-शस्त्र भी देगा। लीबिया के राष्ट्रपति गद्दाफी ने परमाणु बम प्राप्त करने के लिए चीन से भी पूछा पर चीन ने उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी थी।

कुछ लोगों का विचार है कि लीबिया की यह योजना कहीं इजराइल को परमाणु अस्त्रों के अनुसंधान कार्यों के लिए प्रेरित न करे जो परमाणविक अनुसंधान में सक्षम है, भले ही अभी उसके पास परमाणु बम न हो। ऐसे समाचार मिले हैं कि लीबिया ने रूस की इस सहायता के बदले में उसे अपने यहाँ सैनिक अड्डे बनाने की स्वीकृति दी है।

अन्य तीन नाभिकीय समझौतों के अन्तर्गत पश्चिमी जर्मनी और फ्रांस नाभिकीय संयंत्र भरण करने वाले राष्ट्र हैं। पश्चिमी जर्मनी ब्राजील को और फ्रांस पाकिस्तान तथा दक्षिण कोरिवा को नाभिकीय संयंत्र दे रहे हैं। ये तीनों समझौते निःशेष ईंधन की छड़ों से प्लूटोनियम को पृथक करने के संयंत्र देने से सम्बन्धित हैं। प्लूटोनियम एक विखंडनीय पदार्थ है और नाभिकीय विस्फोटक बनाने के लिये, चाहे विस्फोटक शांति कार्यों के लिए हो चाहे किसी अन्य प्रकार के कार्य के लिए, बड़ा उपयुक्त है।

वे लोग जो नाभिकीय ऊर्जा का उत्पादन सैनिक कार्यों के लिए करने के पक्ष में नहीं हैं, इस बात के लिए आग्रह करते हैं कि नाभिकीय दैत्य को विश्व तभी शांति के कार्यों में सीमित रख सकने में सफल हो सकता है जब सभी राष्ट्रों के नाभिकीय संयंत्र अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के अन्तर्गत रखे जायें और नाभिकीय मुक्त क्षेत्रों की स्थापना की जाय। यदि ऐसा नहीं होता तो अस्त्र-शस्त्रों की होड़ अधिक तीव्र होगी औरउनका उपयोग भीषण अग्निकांड उत्पन्न करेगा जो फैलकर विश्व की विनाश-लीला का प्रदर्शन करेगा।

समाचारपत्रों में यह सूचना छपी है कि संयुक्त राज्य अमेरिका, राष्ट्रीय हित में नाभिकीय अस्त्रों का उपयोग कर सकता है। 27 जून, सन् 1975 के दिन संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव डॉ० कुर्ट वाल्डहीम (Kurt Waldheim) ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अस्त्रों के आवागमन की विधि पर चिन्ता व्यक्त की और सभी राष्ट्रों से अपील की कि वे स्वयं अपनी तरफ से इस सम्बन्ध में संयम रखें। संयुक्त राष्ट्र संघ की तीसरी वर्षगांठ पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि जब विश्व का सेना पर व्यय प्रतिवर्ष 300 बिलियन डालर के लगभग हो गया है और जब प्रतिवर्ष लगभग 20 बिलियन डालर मूल्य के शस्त्रों का व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय जगत में हो रहा है, तो ऐसी स्थिति में विश्व सुरक्षित और आर्थिक रूप से सुदृढ़ कभी नहीं हो सकता। उन्होंने यह भी कहा कि इससे पूर्व कभी भी शांति के काल में संसार में इतनी बड़ी मात्रा में शस्त्रों का क्रय-विक्रय नहीं हुआ था।

आगे उन्होंने यह भी कहा कि जब इस प्रकार अस्त्र-शस्त्रों की होड़ बढ़ने लगी तो स्वभावतः अस्त्र-शस्त्रों का क्रय-विक्रय कई गुना बढ़ा। कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ कई राष्ट्रों का हित उन स्थानों की सुरक्षा से सम्बन्धित है। जब इन स्थानों पर अस्त्र-शस्त्र एकत्र किये जाते हैं तो इन राष्ट्रों के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है और यह स्थिति विश्व की शान्ति और सुरक्षा के लिए भयप्रद होती है। इतिहास हमें बतलाता है कि अस्त्र-शस्त्रों के बड़े भंडारों का अस्तित्व उनके प्रयोग के लिए दबाव डालता है और यदि युद्ध आरम्भ हुआ तो यह बड़ी शक्तियों को अपने में लपेट लेगा और संभवतः बाद में एक नाभिकीय युद्ध भी आरम्भ हो जाय। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि अस्त्र-शस्त्रों का क्रय-विक्रय करने वाले राष्ट्र अपने ही हित की दृष्टि से, इन गतिविधियों को संयमित करें और स्वयं भी अपने ऊपर संयम रखें।

अपनी ही भूमि का सर्वनाश

"संयुक्त राष्ट्र संघ पर्यावरण कार्यक्रम" (United Nation's Environment Programme) के निदेशक मौरिस स्ट्रांग के अनुसार "मनुष्य अपने आसपास के वातावरण को खतरे में डाल रहा है। जीवाश्म ईंधन का उपयोग, परमाणु-भट्टियों की बढ़ती संख्या और मनुष्य द्वारा सहस्रों बनाये नये रसायनिक पदार्थों का परीक्षण और उपयोग मानव स्वास्थ्य और जीवन के लिए नये नये संकट उत्पन्न कर रहा है"। उपर्युक्त विचार श्री स्ट्रांग ने नैरोबी में आयोजित संयुक्त राष्ट्र संघ पर्यावरण कार्यक्रम की कार्यकारिणी समिति के तीसरे अधिवेशन के अवसर पर व्यक्त किया था।

श्री स्ट्रांग ने प्रदूषण के जिन कुप्रभावों के सम्बन्ध में संकेत किया है उनमें जलवायु में परिवर्तन, समुद्री प्रदूषण, भोज्य पदार्थों में प्रदूषण तथा वातावरण में उपस्थित ओजोन के स्तर में होने वाली हानियाँ सम्मिलित हैं। उन्होंने यह भी बतलाया कि कुछ ऋतु-वैज्ञानिकों का यह विश्वास है कि इस बीच भारत और अफ्रीका में जो अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई है और चीन तथा रूस में फसल का उत्पादन कम हुआ है, वह सब विश्व की जलवायु में होने वाले परिवर्तन के परिणाम हैं।

श्री स्ट्रांग इस बात से कुछ आश्वस्त हुए कि 55 राष्ट्रों ने पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या को महत्व दिया है और इनसे सम्बन्धित अध्ययन तथा प्रदूषण रोकने के उपायों की खोज के लिए मंत्रालय और विभाग भी बनाये हैं। श्री स्ट्रांग ने प्रतिनिधियों को बतलाया कि विश्व की वर्तमान जनसंख्या लगभग तीन अरब से अधिक है और 2000 ईस्वी तक यह संभवतः दुगुनी हो जायगी। इतनी बड़ी जनसंख्या के लिए जीवन-निर्वाह हेतु जीवन की सन्तोषजनक परिस्थितियाँ उपलब्ध करना विश्व की क्षमता और सामर्थ्य के लिये कठिन हो जायगा। उन्होंने यह भी कहा कि बड़ी संख्या में लोगों के गाँवों से आकर नगर में बसने की प्रवृत्ति न केवल सम्बन्धित राष्ट्रों के लिए वरन् पूरे

संसार के लिए एक चिन्ता का विषय है । यह एक राष्ट्रीय नीति निर्धारण करने का तथा पर्याप्त धन व्यय करने का प्रश्न है जिससे जीवन के स्तर में यदि कोई प्रगति न भी हो तो कम से कम उसका वर्तमान स्तर बनाये रखा जा सके ।

मॉरिस स्ट्रांग ने चेतावनी दी कि मनुष्य भूमि का का उचित उपयोग न कर उसे नष्ट कर रहा है । ढालू पहाड़ों पर खेती करने, उष्ण कटिवन्ध के जंगलों को काटने और जलाने की प्रवृत्ति, उष्ण कटिबन्ध तथा मरुभूमि में गलत तकनीकी के प्रयोग से लगभग 10% विश्व की उपजाऊ भूमि नष्ट हो गई है । उन्होंने अधिक उत्पादनशील एकवंशीय पारम्परिक उपज पर कृषि को केन्द्रित करने की हानियों की ओर संकेत किया और चेतावनी दी कि इससे कीटों और रोगों से पूरी उपज नष्ट हो जाने की संभावना बढ़ जाती है ।

कीटनाशक रसायन तथा उर्वरकों से कृषि को संकट हो सकता है । इस ओर से भी हमें सतर्क रहना चाहिए । साथ ही उन्होंने कृषि के नये तथा उत्तम प्रबंध को अपनाने पर भी बल दिया और अत्यधिक मछलियाँ मारने तथा प्रदूषण के कुप्रभावों की ओर ध्यान रखने को भी कहा । स्ट्रांग ने यह भी चेतावनी दी कि मनुष्य को अपनी चादर से अधिक पैर नहीं फैलाना चाहिए और प्रत्येक मनुष्य को यह अवश्य जान लेना चाहिए कि प्रकृति हमारी कितनी तरह से सेवा करती है । जैसे जैसे हमारी जनसंख्या तथा आर्थिक विकास की गतिविधियाँ बढ़ती हैं, हममें प्रकृति में तरह-तरह से विघ्न डालने की प्रवृत्ति भी बढ़ती है । अगले 30-40 वर्षों में विश्व की जनसंख्या के दुगुनी हो जाने की संभावना है , बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ विश्व की आर्थिक गतिविधियों के लगभग तीन गुनी हो जाने की संभावना की ओर संकेत करते हुए उन्होंने चेतावनी दी कि इन सबका प्रभाव हमारे वातावरण के सन्तुलन पर पड़े बिना नहीं रह सकता ।

स्वीडन के व्यर्थ पड़ी भूमि

स्वीडन जैसे कम जनसंख्या वाले देश में कृषियोग्य पर्याप्त भूमि का उपयोग वन लगाने के काम में होता है । मजदूरी की दर के अधिक होने के कारण वहाँ पर्याप्त कृषि योग्य भूमि बेकार छोड़ दी गई है । उपसाला स्थित स्वीडिश कृषि विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एफ० पेट्रिनी (F. Petrini) और डॉ० एल० जैकबसन (L. Jakobsson) ने बेकार पड़ी भूमि के प्रभाव और उससे उत्पन्न समस्याओं के विभिन्न पक्षों पर अपने एक खोज निबन्ध में प्रकाश डाला है । ऐसा लगता है कि वर्तमान सभ्यता को अनेक कठिनाइयों और समस्याओं का सामना करना है ।

हमें यह ज्ञात है कि नाइट्रोजन उर्वरकों का बनाना बहुत मँहगा पड़ता है क्योंकि इनके बनाने में बहुत अधिक ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है । यह ऊर्जा पेट्रोल तथा अन्य

ऊर्जादायक पदार्थों के आक्सीकरण से प्राप्त होती है। जिन राष्ट्रों में पेट्रोलियम तेल के अधिक निक्षेप हैं वे पेट्रोल की कीमतें अंधाधुंध बढ़ाते जा रहे हैं। अतः स्पष्ट है कि भविष्य में नाइट्रोजन उर्वरकों का उत्पादन घटता जायगा। ये राष्ट्र पेट्रोलियम पदार्थों के विक्रय से अच्छा धन पैदा कर बहुत धनी हो गये हैं।

आज खाड़ी के देश—कातार आबूधाबी, और कुवैत—अमेरिका, स्वीडन, डेनमार्क, केनाडा, पश्चिम जर्मनी तथा अन्य पश्चिम के धनी समझे जाने वाले देशों से कहीं अधिक धनी हैं। सन् 1974 में प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष आय अमेरिका में 6600 डालर, स्वीडन में 6080 डालर, डेनमार्क में 5950 डालर, केनाडा में 5840 डालर, पश्चिम जर्मनी में 5360 डालर तथा फ्रांस में 5290 डालर थी। इसकी तुलना में कातार में 10,000 डालर, आबूधाबी में 10,000 डालर तथा कुवैत में 8500 डालर थी। भले ही उद्योग में विकसित पश्चिमी देश विज्ञान और आधुनिक तकनीकी में आगे हों किन्तु वे खाड़ी की तुलना में धनी नहीं हैं। अब ये खाड़ी के देश गम्भीरता से अपने यहाँ विभिन्न उद्योग स्थापित कर रहे हैं जिसके फलस्वरूप उनका आर्थिक ढाँचा नया रूप ले रहा है।

यह धारणा कि विकासशील विश्व के तीसरी श्रेणी के राष्ट्र अधिक कच्चे माल के स्वामी हैं और पश्चिमी देश उनका शोषण कर रहे हैं, पूर्ण सत्य नहीं है। पश्चिमी जर्मनी में "भूविज्ञान और कच्चे माल के अनुसंधान संस्थान" (Federal Geo- Science and Raw Material Research Institute) के सर्वेक्षण के अनुसार पश्चिमी देशों, समाजवादी देशों और विकासशील देशों में मुख्य खनिजों तथा कुछ अन्य कच्चे माल का पाया जाना लगभग एक-सा है। इस सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है कि पश्चिमी देशों में कच्चे माल का भंडार 37.1%, समाजवादी देशों में (रूस और पूर्वी यूरोप) 30.9% तथा विकासशील राष्ट्रों में 32% है। उदाहरणार्थ, इस सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है कि अमेरिका, केनाडा आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका में सम्मिलित रूप से संसार के सम्पूर्ण कोयले के भंडार का 28.2% पाया जाता है और विकासशील देशों के पास 40% से कुछ कम कोयले की सम्पत्ति है।

पांच दक्षिण अमेरिका के राष्ट्रों (बोलिविया, ब्राजील, चिली, पेरू और मेक्सिको) और अफ्रीका के राष्ट्र जैरे तथा जाम्बिया के अतिरिक्त एशियाई देशों में केवल भारत, इंडोनेशिया, और फिलीपीन्स में ही कच्चे मालों के भंडार हैं। जर्मन गणराज्य द्वारा किये गये अनुसंधान के द्वारा तीसरे विश्व के छब्बीस देशों में संसार में पाये जाने वाले महत्व के कच्चे माल का 3% से कुछ अधिक भंडार है। 74 विकासशील देशों में बहुत कम मात्रा में केवल एक या दो प्रकार के कच्चे माल के भंडार हैं तथा 48 देशों में कोई भंडार नहीं है।

नाइट्रोजन उद्योग के कुछ पक्ष

प्रथम विश्व युद्ध के समय में जर्मनी में सर्वप्रथम संश्लेषित अमोनिया के उत्प्रेरकीय आक्सीकरण द्वारा नाइट्रिक अम्ल बेडिश एनिलीन उण्ड सोडा फैब्रिक (Badisch Anilin und Soda Fabrick) द्वारा बनाया गया जिसका उपयोग विस्फोटक बनाने में किया गया। विश्व के वैज्ञानिकों द्वारा अमोनिया से नाइट्रिक अम्ल बनाने की इस प्रक्रिया को अधिक सक्षम बनाने से सारे प्रयत्न अब तक असफल रहे हैं। इस प्रक्रिया की अधिकतम दक्षता 8-10% ही है। इसके फलस्वरूप नाइट्रोजन उर्वरक भी मँहगे पड़ते हैं और विश्व का इनका उत्पादन विश्व की कुल आवश्यकता का केवल 10% ही है। ऊर्जा और पेट्रोल की कमी से यह उत्पादन निश्चय ही भविष्य में और कम हो जायगा। इस रासायनिक उद्योग का यह सबसे कमजोर पक्ष है।

रोम में सन् 1968 में पोप द्वारा आमंत्रित संगोष्ठी में अपनी खोज के सम्बन्ध में भाषण देते हुये मैंने बतलाया कि भूसा तथा खेत के अन्य व्यर्थ के कार्बनिक पदार्थों के साथ फास्फेट मिला कर जब इस मिश्रण को मिट्टी में मिला दिया जाता है तो सूर्य प्रकाश की उपस्थिति में कार्बनिक पदार्थों का आक्सीकरण होता है और जो ऊर्जा इस प्रक्रिया में निकलती है वह वायु के नाइट्रोजन को स्थिर करके नाइट्रोजन यौगिक के रूप में मिट्टी में पहुँचा देती है। इस प्रकार मिट्टी की उर्वरा क्षमता में वृद्धि होती है। इसी सन्दर्भ में जो प्रश्न संगोष्ठी में मुझसे पूछे गये और चर्चा हुई उसका संक्षेप में यहाँ विवरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

वैक्समैन—क्या किसी प्रयोगशाला ने आपके परिणाम सत्यापित किये ?

धर—आप इसके सम्वन्ध में उपसाला के श्री जी० ब्जालवे (G. Bjalve) से पूछें। उन्होंने हमारे परिणामों की सत्यता स्वयं अपने द्वारा किये प्रयोगों के परिणामों को स्वीडन में प्रकाशित कर की है और उन्होंने भूसा तथा फास्फेट द्वारा नाइट्रोजन की वृद्धि के सम्बन्ध में अपने आँकड़े भी दिये हैं। उनका विचार है कि स्वीडन की परिस्थितियों में भी प्रकाश-रासायनिक क्रिया द्वारा नाइट्रोजन का यौगिकीकरण फलीदार फसलों द्वारा किये गए नाइट्रोजन यौगिकीकरण से अधिक महत्वपूर्ण है।

वैक्समैन—फिर आपको यौगिकीकृत नाइट्रोजन की क्यों आवश्यकता है ? ऐसे कारखानों की भी क्या आवश्यकता है जो यौगिकीकृत नाइट्रोजन का उत्पादन करें ?

धर—यही वह बात है जिसे मैं नहीं चाहता। मैं अपनी विधि से समस्त देशों में टनों नाइट्रोजन का यौगिकीकरण कर सकता हूँ। आप भी ऐसा कर सकते हैं। हमने भूमि में नाइट्रोजन-वृद्धि के इस विज्ञान की स्थापना की है। यह विज्ञान है। यह

किसी एक की सम्पत्ति नहीं है। अन्य वैज्ञानिकों ने भी इसका परीक्षण किया है। आप स्वयं भी इसे कर सकते हैं।

ब्रैडफील्ड—मैं चाहूँगा कि प्रोफेसर धर हमें बतलायें कि वर्तमान समय में भारत में यह विधि किस सीमा तक प्रयोग की जा रही है ?

धर—प्रो० ब्रैडफील्ड ! आप हमारे देश में आ चुके हैं और आप हमारे देश की मनोवृत्ति से परिचित हैं। मैं यहाँ इसलिये आया हूँ कि आप लोगों को विश्वास दिला सकूँ कि यदि इस विधि को योरपवासी अपना लें तो भारत में भी इसे अपनाने में कठिनाई नहीं होगी। आप इस तथ्य से पूरी तरह अवगत हैं। मैं इसीलिए सब स्थानों में घूम रहा हूँ जिससे योरप द्वारा इसे मान्यता दी जाय। गांधी जी ने मेरे विचार का पूरा समर्थन किया और उन्होंने इस विधि को सम्पूर्ण भारत में अपनाने का आग्रह भी किया जिससे खाद्यान्न की कमी दूर की जा सके। उन्होंने अपने विचार अपनी मृत्यु से दो वर्ष पूर्व व्यक्त किये थे और नेहरू ने इसे अपनाने की दिशा में प्रयत्न किया। किन्तु हमारे देश में शिक्षा की कमी के कारण इस दिशा में प्रगति नहीं हुई।

मैं सन् 1961 में छठीं अन्तर्राष्ट्रीय मृदा विज्ञान कांग्रेस (VI th International Soil Science Congress) में सम्मिलित होने विस्कांसिन विश्वविद्यालय गया था। इस सम्मेलन में भूमि की उर्वरता में सुधार और उपज में वृद्धि करने के उपायों पर मैंने व्याख्यान दिया। मेरे भाषण से विख्यात मृदा वैज्ञानिक जार्ज स्कारसेथ तथा कुछ अन्य वैज्ञानिक बहुत प्रभावित हुए। स्कारसेथ ने मेरी प्रसंशा करते हुए मुझे बधाई दी और कहा कि "मैं तुम्हें कभी नहीं भूलूँगा"। उनका अभी कुछ समय पूर्व देहान्त हो गया है। कई युवक अमेरिकी वैज्ञानिक मेरे पास आये "आप प्रतिभाशाली हैं परन्तु आप हमारे देश से विदा लेने तक सावधान रहें जिससे बिना हानि पहुँचे इस देश से आप वापस जा सकें, क्योंकि हमारे देश के अधिकांश मृदा वैज्ञानिक उर्वरक उद्योगों की सेवा में हैं और आप इन उद्योगों को अपनी नई नाइट्रोजन-यौगिकीकरण की खोज द्वारा समाप्त करना चाहते हैं। इस कारण ये लोग आपको हानि पहुँचाने की चेष्टा कर सकते हैं"।

स्टाकहोम के रायल इंस्टीट्यूट के मृदा विज्ञान के प्राध्यापक और मेरे मित्र प्रो० आल्फ एसलैण्डर ने, जो सन् 1927 की अमेरिका में हुई प्रथम मृदा कांग्रेस में सम्मिलित हुए थे और सन् 1961 की कांग्रेस में भी मेरे साथ सम्मिलित होने विस्कांसन विश्व-विद्यालय में आये थे, मुझे बतलाया था कि इस कांग्रेस में सम्मिलित होने वाले अधिकांश वैज्ञानिकों को उर्वरक-उद्योगों से धन मिलता है। वे भी मेरे इस विचार से सहमत थे कि यह उद्योग मँहगा है और इसकी दक्षता भी कम है।

ooo

2

त्रस्त मानव

पिछले 60 वर्षों से विचार करते रहने पर मेरी यह धारणा बनी है कि विज्ञान मानव प्रकृति का उचित दिशा में विकास करने में असफल रहा है। यह जान कर दुख होता है कि संसार के दो महान वैज्ञानिक, प्रो० ग्रिगनार्ड और प्रो० हाबर जिन्हें नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था, उन्होंने प्रथम युद्ध के दौरान अपने कई वर्षों का समय ऐसे भयंकर हथियारों की खोज करने में लगाया गया जिनके द्वारा पड़ोसी देशों के निर्दोष पुरुषों और स्त्रियों का संहार किया जा सके। हम सब यह अच्छी तरह जानते हैं कि मानव इतिहास में शान्तिकाल की अपेक्षा युद्ध का समय अधिक रहा है। फिर भी मनुष्य यह अभिमान करता है कि भगवान ने उसे अपनी प्रतिमा के रूप में बनाया है।

वर्साइ संधि के सम्बन्ध में बातचीत करने जब अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विलसन फ्रांस आये तब उन्होंने जो कई भाषण दिये वे मुझे आज भी याद हैं। इस सन्धि का एक महत्वपूर्ण पक्ष राष्ट्रसंघ की स्थापना करना था। राष्ट्रपति 26 जून 1919 को संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने के बाद अमेरिका वापस पहुँचे तो उनके देश के अधिकांश लोगों ने अपने देश को संसार की राजनीतिक गतिविधियों से अलग रखने की नीति अपनायी और संसार की बातों से अपने को पूर्णतः अलग कर लिया। इस प्रकार अमेरिकावासियों ने अपने राष्ट्रपति की नीति को ही ठुकरा दिया।

आजकल हमारे पास राष्ट्रसंघ जैसी संस्था तो है किन्तु यह संस्था भी अधिकतर अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में असफल रही है।

जनसंख्या की वृद्धि के कारण आज विश्व के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या खाद्य की है। इसी सन्दर्भ में अनुभवी कृषि-विशेषज्ञ सर जॉन रसल ने अपनी मृत्यु के पूर्व कहा था कि "विश्व में खाद्य-संभरण पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण संसार की खाद्य की कमी को सुलझाने

का कोई समाधान नहीं है।" इसके साथ ही संसार के प्रमुख राष्ट्र—अमेरिका और रूस-अपनी आय का अधिकांश भाग अन्तरिक्ष अनुसन्धान में तथा परमाणु बम और हाइड्रोजन बम बनाने में लगा रहे हैं और अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य स्थिति को सुधारने की ओर से पूर्णतः विमुख हैं। एशिया के देश चीन, जापान, भारत आदि भी इन पश्चिमी राष्ट्रों की नकल करने का प्रयत्न कर रहे हैं और यह प्रदर्शित करने की चेष्टा करते हैं कि वे भी तकनीकी के क्षेत्र में उतने ही उन्नतिशील हैं जितने किपश्चिमी राष्ट्र। निश्चय ही यह विज्ञान और उसके प्रयोगों का दुरुपयोग है। विचारशील वैज्ञानिकों, शिक्षाविदों और समस्त धार्मिक नेताओं को सम्मिलित रूप से यह घोषणा करनी चाहिये कि संसार में युद्ध को तुरन्त रोका जाय। इन्हें चारों ओर व्याप्त चारित्रिक और नैतिक पतन के विरुद्ध अभियान चलाना चाहिये।

नोबेल समिति ने प्रो० हाबर को रसायन विज्ञान का नोबल पुरस्कार प्रदान करते समय कहा था "हाबर ने संसार के कृषि सुधार और मानव जीवन के उत्थान हेतु बहुत महत्वपूर्ण खोज की और उन्होंने वायु से खाद्य पदार्थ प्राप्त करने का साधन ढूँढकर इस समस्या पर विजय प्राप्त की है।" किन्तु दुर्भाग्यवश अमोनिया संश्लेषण से कृषि सुधार के सम्बन्ध में व्यक्त की गई आशा पूरी नहीं हो पाई। हाबर विधि से अमोनिया संश्लेषण द्वारा नाइट्रोजन यौगिकों का उत्पादन वर्तमान समय में केवल 20 मिलियन टन ही हो पाता है, क्योंकि यह विधि मँहगी और कम अच्छी है।

विश्व में 1200 मिलियन टन अनाज, 800 मिलियन टन अन्य खाद्यान तथा 2000 मिलियन टन चारा तथा रेशा उत्पन्न करने के लिए 400 मिलियन टन नाइट्रोजन की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि एक टन नाइट्रोजन के उपयोग से करीब 10 टन खाद्यान्न या चारे का उत्पादन होता है। इस प्रकार विश्व की उपज के लिए आवश्यक कुल नाइट्रोजन का केवल 1/10वाँ हिस्सा ही रासायनिक उद्योग द्वारा प्राप्त होता है। कृषि उत्पादन के लिए नाइट्रोजन का मुख्य स्रोत मिट्टी में उपस्थित **ह्यमस का नाइट्रोजन** है जो मिट्टी में उपस्थित कार्बनिक पदार्थों के मन्द आक्सीकरण होने के फलस्वरूप सूर्य प्रकाश के प्रभाव से मिट्टी में वायु के नाइट्रोजन के यौगिकीकरण से बनता है। इस तथ्य की खोज मैंने (धर) तथा मेरे सहयोगियों ने की है। यह नाइट्रोजन यौगिकीकरण भूसा और क्षारीय स्लैग (फास्फेट) को मिट्टी में मिलाने और सूर्य प्रकाश का मिट्टी द्वारा शोषण किये जाने पर कार्बनिक पदार्थों के मन्द आक्सीकरण के फलस्वरूप होता है और मात्रात्मक दृष्टि से कृषि-उत्पादन के लिए कृत्रिम उर्वरकों की अपेक्षा अधिक महत्व का है।

हमारी शोधों को मान्यता दिलवाने की दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ कि हम स्वीडन के उपसाला स्थित विश्वविद्यालय गये जहाँ श्री जी० ब्जाल्वे (G. Bjalfre) ने नाइट्रोजन के प्रकाशरासायनिक यौगिकीकरण की हमारी खोज की पूरी तरह जाँच की।

श्री ब्जाल्वे एक ईमानदार और स्पष्टभाषी वैज्ञानिक हैं। उन्होंने मुझसे बतलाया कि वे इस तरह की प्रक्रिया से नाइट्रोजन यौगिकीकरण होने पर पहले विश्वास नहीं करते थे और उनका विश्वास दलहनों की जड़ों में उपस्थित राइजोबिया जीवाणुओं से होने वाले नाइट्रोजन यौगिकीकरण में था, जिसके वे विशेषज्ञ थे। स्वीडन की सरकार द्वारा कृषकों के सहायतार्थ चलाये गये कार्यक्रम में वे अपने सहयोगियों के साथ तिपतिया घास (क्लोवर) और ऐल्फाफा के बीजों में इस जीवाणु को टीके द्वारा प्रवेश कराते थे। अतः जब भूसे को ऊर्जा के स्रोत के रूप में लेकर उन्होंने प्रकाशीय नाइट्रोजन यौगिकीकरण पर अपनी प्रयोगशाला में प्रयोग आरम्भ किया तो उन्हें स्वयं अपने प्रयोग की सफलता पर सन्देह था क्योंकि उनके कई मित्रों ने भी उनसे कहा था कि वह अपना समय व्यर्थ नष्ट कर रहे थे। एक सच्चे वैज्ञानिक के नाते उन्होंने प्रयोगों द्वारा हमारी खोजों की सत्यता की पुष्टि की। मार्च सन् 1954 में स्वीडन मे प्रस्थान करने के पूर्व उन्होंने मुझसे यह बतलाया कि हमारे द्वारा प्रदर्शित तथ्य कि कार्बनिक पदार्थों के मन्द आक्सीकरण द्वारा नाइट्रोजन का प्रकाशीय यौगिकीकरण अपेक्षाकृत अधिक होता है, स्वीडन की परिस्थितियों में भी जीवाणुओं द्वारा होने वाले नाइट्रोजन यौगिकीकरण से यह अधिक महत्व का सिद्ध हुआ। आज हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि पूरे विश्व में दलहनों द्वारा केवल 5 मिलियन टन वायुमण्डल की नाइट्रोजन का ही मिट्टी में यौगिकीकरण होता है और यह मात्रा मेरे (प्रो० धर) द्वारा प्रतिपादित प्रकाशरासायनिक नाइट्रोजन यौगिकीकरण की तुलना में बहुत ही कम है।

जन कल्याण हेतु विज्ञान का गलत उपयोग

जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने के कारण संसार की जनसंख्या सन् 1999 में 6200 मिलियन तक पहुँच सकती है जो आज की जनसंख्या से दूनी होगी। अतः इतनी बड़ी जनसंख्या के उदर-पोषण की समस्या पूरे संसार के लिए एक चिन्ता का विषय है। कृषि अनुसन्धानों के व्यय बहुत बढ़ गये हैं। सर जॉन रसल ने यह बतलाया है कि इंगलैंड में जहाँ अपनी आवश्यकता का 20-25 प्रतिशत खाद्य पदार्थ ही उत्पन्न होता था उसे सन् 1914-18 के बीच उत्पादन बढ़ा कर लगभग 40 प्रतिशत लाने में वैज्ञानिक सफल हुए किन्तु इस पर व्यय बहुत अधिक करना पड़ा। कृषि के विकास में सबसे बड़ी कठिनाई बढ़ती हुई मजदूरी है। आज कृषि मजदूर औद्योगिक मजदूरों के बराबर मजदूरी और सुविधाओं की माँग करने लगे हैं। इसी कारण धनी देशों में कृषि-उत्पादन का व्यय और भोज्य पदार्थों के मूल्य अत्यधिक बढ़ रहे हैं। अब इसी प्रकार की प्रवृत्ति उन्नतिशील राष्ट्रों में भी स्पष्ट दिखलायी पड़ने लगी है। परन्तु राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग अन्तरिक्ष अनुसन्धानों में और परमाणु ऊर्जा से सम्बन्धित संस्थानों में व्यय हो रहा है। यह पूर्णतया स्पष्ट है कि जब तक युद्ध पूरी तरह रोक नहीं दिये जाते, वर्तमान सभ्यता का चल पाना कठिन है। अन्तरिक्ष अनुसन्धान तथा परमाणु संस्थानों में किये जाने वाले अनुसन्धानों के पीछे उद्देय मुख्यतः युद्ध की भावना ही है। प्रगतिशील और प्रौद्योगिक रूप से विकसित

देशों के नेतृत्व को स्वीकार कर अविकसित देश आँख बंद कर उन्हीं देशों की भाँति अपनी बर्बादी और विनाश के मार्ग पर चल रहे हैं।

मानव की सेवा में विज्ञान

यह बड़े दुःख की बात है कि संसार में अधिकांश लोग भूखे, नंगे और गरीब हैं तथा अशिक्षित भी। नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हालैण्ड, वेल्जियम, इंगलैण्ड, स्विटजरलैण्ड, जर्मनी और फ्रांस के कुछ भागों में तथा अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड में भौतिक उन्नति हुई है और वहाँ लगभग सभी नागरिक समृद्ध हैं। इन देशों में रहने वाले लोगों की संख्या अनुमानत: 35 करोड़ है। दूसरी ओर संसार के शेष भागों में रहने वाले लगभग 2 अरब 60 करोड़ लोग निर्धन हैं और सामान्य सुख-सुविधाओं से वंचित हैं। इस तरह पूरे संसार की 3 अरब 10 करोड़ जनसंख्या का एक छोटा सा समूह ही समृद्ध कहा जा सकता है।

मानव इतिहास में कई विचारक आये जिन्होंने संसार को अनेक धर्म, सिद्धान्त एवं नैतिक आचार-विचार के तरीके दिये जिनसे गरीब लोग कुछ समय तक अपने दुःखों को भूले रहे। गौतम बुद्ध, कन्फ्यूसियस, जीसस क्राइस्ट, हजरत मुहम्मद आदि के सिद्धान्तों ने मानव जाति के एकीकरण तथा उसकी उन्नति में बहुत बड़ा योगदान किया। किन्तु अब लगता है कि धर्म का प्रभाव आधुनिक मनुष्य पर उतना नहीं रह गया है जितना कि पहले था। अब समय आ गया है कि हम अपने पिछड़ेपन के बारे में राष्ट्र के रूप में सोचें और ज्ञात करें कि इसका कारण क्या है?

योरप की उन्नति का कारण

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के काल में योरप में पैरासेल्सस, बेकन, बॉयल तथा अन्य वैज्ञानिकों द्वारा प्रायोगिक विधियाँ और वैज्ञानिक प्रवृत्ति भली प्रकार स्थापित हो चुकी थीं और वहाँ लगभग 500 वर्षों तक विज्ञान और तकनीकी की उन्नति बराबर होती रही। योरप के लोगों को प्रायोगिक विधियों द्वारा प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार करना सिखाया गया और उन लोगों ने सच्ची लगन के साथ प्रयोग किये और उनसे ठीक निष्कर्ष निकाले जिससे उन्हें प्रकृति पर नियंत्रण प्राप्त करने में सफलता मिली। आठवीं शताब्दी के पश्चात् हमने अपने देश में प्रयोग करना छोड़ दिया क्योंकि हमने अपनी स्वतन्त्रता खो दी थी। इसी कारण हम पिछड़ गये और योरप के लोगों की भाँति हम अपने कार्य और प्रयत्नों में भी ईमानदार नहीं रहे। योरपवासी अपने प्रतिदिन के जीवन में भी हमसे कहीं अधिक ईमानदार हैं।

महान जर्मन रसायनज्ञ पैरासेल्सस, जो कि उग्र और क्रांतिकारी विचार का था, सन् 1493 से 1541 तक जीवित रहा। उसने प्रयोगों के महत्व पर बहुत बल दिया है और

इस सम्बन्ध में लिखा है "वैज्ञानिक प्रयोग करने वाला व्यक्ति साटन और रेशम के भड़कीले वस्त्रों में नहीं घूमता और न अपनी अँगुलियों में सोने की अँगुठियाँ पहनता है, न अपनी कमर में चाँदी की कटार लटकाता है, न ही हाथों में सफेद दस्ताने पहनता है। किन्तु वह धैर्यपूर्वक लगन से अग्नि के सामने रात दिन अपने प्रयोगों में लगा रहता है। वह इधर-उधर घूमने में अपना समय व्यर्थ नहीं गँवाता वरन् अपनी प्रयोगशाला में ही मनोरंजन ढूँढता है। वह चमड़े के मोटे वस्त्र और ऐप्रन पहनता है और इन्हीं से अपने हाथ पोंछ लेता है और वह अपनी अँगुलियों का उपयोग कोयला, राख और मिट्टी के ढेर को उठाने और साफ करने में लगाता है न कि सोने की अँगूठियों को पहनने में। उसकी अँगुलियों में वैसी ही कालिख लगी होती है जैसे कि सुनार और कोयले धौंकने वालों की होती हैं, और इसीलिए वह अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने की चेष्टा नहीं करता।"

यह जानना रुचिकर होगा कि फ्रांस की क्रांति के समय जब वहाँ के लोग स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे तब फ्रांस के अमर वैज्ञानिक लैवोजिएर को, जिन्हें रसायन विज्ञान और शरीरक्रिया विज्ञान का संस्थापक माना जाता है, सन् 1794 में फ्रांस के क्रांतिकारियों ने फाँसी पर लटका दिया था। फाँसी पर चढ़ने के कुछ दिनों पूर्व उन्होंने निम्नलिखित शब्द कहे थे—"हम अपना यह संस्मरण एक संतोष-प्रद विचार के साथ समाप्त करेंगे। मानव के कल्याण के हेतु उपयुक्त बनने और अपने देश को सम्मान देने के लिए यह अनिवार्य नहीं कि व्यक्ति उन सामाजिक समारोहों में भाग ले जिनका सम्बन्ध राष्ट्र के संगठन, या साम्राज्य के पुनरुत्थान से है। वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला के और अध्ययनकक्ष के एकांत में बैठकर अपने देश की सेवा कर सकता है। वह आशा कर सकता है कि अपने परिश्रम से वह मनुष्य जाति को हानि पहुँचाने वाली बुराइयों में कमी ला सकेगा और उसके मनोरंजन और सुख को बढ़ा सकेगा। यदि वह अपने द्वारा खोजे गये नये मार्ग से मानव की आयु कुछ वर्ष या कुछ ही दिन बढ़ाने में सहायक हो सके तो वह "मानवता के परोपकारी" की गौरवशाली उपाधि की आकांक्षा कर सकता है।"

पैलिसी, ब्लैक, शीले, प्रीस्टले, न्यूटन, कैवेंडिश, डेवी, मेंडलीफ, बर्जिलियस, बुन्सेन, डार्विन, मेंडल, ड्यूमा, बोर्सिगाल्ट, फैराडे, पास्तुर, रॉस, कॉक, क्यूरी दम्पत्ति जैसे महान वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक प्रयासों और प्रयोगों को करने में बहुत बड़ा बलिदान दिया और योरोपीय राष्ट्रों को यथार्थवादी तथा सत्यवादी बनाया। इन लोगों ने जीवन के सभी क्षेत्रों में देश के नैसर्गिक स्रोतों का विकास किया और कृषि में उन्नति की तथा योरप को महान और समृद्ध बनाया। इसके विपरीत पूर्व के अधिकतर देशों ने वैज्ञानिक प्रायोगिक विधियों को कभी भी नहीं अपनाया और यही कारण है कि वे वाणिज्य, उद्योग तथा कृषि में विज्ञान का उपयोग नहीं कर सके। हमारे देश का यह दुर्भाग्य रहा कि यहाँ विदेशी आक्रमण बराबर होते रहे और विदेशियों ने हमारी स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया। हम विज्ञान,

सत्य और प्रगति का मार्ग न अपनाकर पूर्ण रूप से शारीरिक तथा मानसिक रूप से गुलाम हो गये। मुझे आज यह कहने में बहुत दुःख होता है कि हमारी मानसिक दासता अभी भी बनी हुई है। सही और वैज्ञानिक ढंग से कार्य करने की अपेक्षा हम अधिकार-प्राप्त उच्च राज-नेताओं की चाटुकारिता से अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगे है और अधिकारी पुरुषों की गलत बातों का भी विरोध करने का साहस नहीं करते।

हमारे बहुत से देशवासी यह आशा करते होंगे कि **परमाणु ऊर्जा** के उपयोग से एक नये युग का जन्म होगा जिसमें निर्धन व्यक्तियों को भी लाभ पहुँचेगा। परमाणु ऊर्जा अभी भी बहुत मँहगी है इस कारण इस आशा से पश्चिम योरपीय देशों ने लगभग 500 वर्षों तक प्रयोगों का कठिन रास्ता अपनाया। रूस ने 350 वर्षों तक ऐसा किया, किन्तु भारत-वर्ष ने अभी पिछले केवल 50 वर्षों से ही इस मार्ग पर चलना आरम्भ किया है। परमाणु खोजों और वैज्ञानिकों अन्वेषणों में जितना समय किसी राष्ट्र के वासी लगाते हैं उसी अनुपात से उस राष्ट्र को लाभ मिल सकता है। साथ ही किसी योग्य व्यक्ति द्वारा किसी भी वैज्ञानिक या तकनीकी खोज का पूरा लाभ किसी देश को तभी मिल सकता है जब वहाँ के सब लोग इतने प्रगतिशील हों कि वे उस खोज के महत्व को समझ कर अपना सकें।

जनसंख्या पर नियन्त्रण

पूर्वी देशों के लोगों ने जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगाना अभी नहीं सीखा है। यह बतलाना उचित है कि हालैण्ड में, जिसकी जनसंख्या बढ़कर 10 मिलियन हो गई है, जनसंख्या वृद्धि की दर 1% प्रतिवर्ष रही है जबकि योरप के अन्य देशों में यह वृद्धि 0.1 से 0.5% प्रतिवर्ष रही है। भारत में यह वृद्धि 1.2% प्रतिवर्ष है। इसे रोकना अनिवार्य है अन्यथा हमारे राष्ट्र के भोजन का स्तर जो अभी भी संसार में सबसे कम है इससे भी कम हो जायेगा।

कोई समय था जब आयरलैण्ड एक निर्धन देश देश था। वहाँ लोगों को पूरा भोजन नहीं मिल पाता था और प्रायः अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी परन्तु आज आयर-लैण्ड भोजन की दृष्टि से संसार में सर्वश्रेष्ठ देश है। इसके ठीक विपरीत भारतवर्ष 'संसार का सबसे भूखा देश' है। यह ध्यान देने की बात है कि आयरलैण्ड की जनसंख्या सन् 1934 से 1951 तक 2.96 मिलियन बराबर एक सी रही। न इसमें कोई वृद्धि हुई और न कमी हुई। इसके विपरीत फ्रांस की जनसंख्या सन् 1934 में 41.9 मिलियन थी जो सन् 1952 में बढ़कर 43.45 मिलियन हो गई अर्थात् इस अवधि में जनसंख्या की वृद्धि 0.2% वार्षिक की दर से हुई।

सर जॉन रसेल ने अपनी पुस्तक "विश्व की जनसंख्या और भोजन का संभरण" (जो सन् 1955 में प्रकाशित हुई है) में लिखा है कि भारत की जनसंख्या सन् 1941 और

सन् 1951 के काल में 4 करोड़ बढ़ी और यदि इसी गति से यह जनसंख्या बढ़ती रही तो भारत में भोजन की समस्या अत्यन्त गम्भीर हो जायगी और संभवतः ऐसी स्थिति आ जाय कि यह सुलझायी भी न जा सके ।

ऊपर लिखे तथ्यों से यह स्पष्ट है कि जब तक हमारी सरकार और हमारे देशवासी सत्य और विज्ञान का कठिन मार्ग नहीं अपनायेंगे और प्रायोगिक विधियों का ईमानदारी से अपने नैसर्गिक स्रोतों और कृषि के विकास के लिए उपयोग नहीं करेंगे और देश के लोगों को आत्मसम्मान, अपने लोभ पर नियन्त्रण करना, तथा जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण करना नहीं सिखलायेंगे, तब तक हम आज की तरह ही निर्धन बने रहेंगे । हम पूरा भोजन भी नहीं प्राप्त कर सकेंगे ।

वैज्ञानिक प्रकाशन विभिन्न देशों में वैज्ञानिकों द्वारा पढ़े जाते हैं जिससे वैज्ञानिकों के बीच परस्पर भ्रातृभाव उत्पन्न होता है । सर राबर्ट राबिन्सन ने, जिन्हें रसायन का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था और जो सन् 1955 में 'ब्रिटिश एसोसियेशन' के अध्यक्ष थे, अपने व्याख्यान में कहा था "विज्ञान एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति है । हमारे पास यह एक सबसे मूल्यवान निधि है । वैज्ञानिकों का पारस्परिक भ्रातृभाव एक वास्तविकता है ।"

यह दुर्भाग्य है कि सरकारें ऐसे राजनीतिकों द्वारा संचालित की जाती हैं जिन्हें सत्य तथा प्रयोगों पर आधारित वैज्ञानिक विधियों में प्रशिक्षित नहीं किया जाता । ये राजनीतिज्ञ वैज्ञानिकों को बाध्य करते हैं कि वे ऐसे अस्त्र-शस्त्र बनायें जिनसे पड़ोसी राष्ट्रों के नागरिकों का दक्षतापूर्वक संहार किया जा सके । यह मानव जाति के लिए अभिशाप रहा है, विशेषकर योरप में पिछले 2000 वर्षों से यह अभिशाप व्याप्त रहा है । यह अभिशाप आज परमाणु और हाइड्रोजन बम के निर्माण के रूप में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है । वैज्ञानिकों और राजनीतिज्ञों को परस्पर एकजुट होकर तथा संसार के समस्त अकादमीशियनों को भी मिल कर इन राजनेताओं को बाध्य करना चाहिये कि अब वे पुनः कोई युद्ध आरम्भ न होने दें । अब सद्भावना का वातावरण बनना आरम्भ हो गया है और इस सम्बन्ध में पोप पॉल की भूमिका, रूस का प्रयत्न और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और एफ० ए० ओ० के योग-दान के फलस्वरूप ऐसी सम्भावना है कि संसार में 'शान्ति का युग' आ सकेगा । हमारी अकादमी सहित सारी अकादमियों को परस्पर मिलकर ऐसी योजना बनानी चाहिये कि आयुध कारखाने समाप्त कर दिये जायें ।

मानव का इतिहास : कष्टों और दुःखों से पूर्ण

बहुत समय पूर्व फारस देश में एक बहुत बुद्धिमान राजा था । वृद्धावस्था में उसने अपने देश के विद्वानों से मानव इतिहास पर एक ग्रंथ लिखने को कहा । उन्होंने बीस वर्षों

के कठिन परिश्रम से इस सम्बन्ध में 100 पुस्तकें लिखीं और फिर उन्हें संक्षिप्त करके 1000 पृष्ठों की एक पुस्तक तैयार की। इन विद्वानों ने राजा से कहा "यदि आप इस पुस्तक को पढ़ेंगे तो आपको मानव इतिहास की प्रमुख विशिष्टतायें ज्ञात हो जायेंगी।" राजा मृत्युशैय्या पर था अतः उसने विद्वानों से कहा "मैं 70 वर्ष का हो चुका हूँ और मृत्यु-शैय्या पर हूँ अतः मैं इतनी बड़ी पुस्तक पढ़ने में असमर्थ हूँ। आप ही मुझे मनुष्य की उपलब्धियों की प्रमुख बातें बतला दें।" इन विद्वानों के मुखिया ने नम्रतापूर्वक बताया "राजन ! संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि मनुष्य-जन्म दुख सहते हुए मर जाने के लिए हुआ है।"

सम्भवतः मानव इतिहास में सबसे महान नैतिक घटना आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व घटी थी जब एक राजा का पुत्र गौतम बुद्ध 30 वर्ष की ही आयु में अपनी सुन्दर पत्नी, पुत्र और राजपरिवार के जीवन को तिलांजलि देकर मनुष्य के दुःखों और कष्टों को दूर करने के हेतु महान सत्य की खोज में जंगलों में तपस्या करने हेतु चला गया। आज भी इस संसार में रहने वाले 32 अरब जनसमूह के सामने प्राकृतिक प्रकोपों और युद्धों से उत्पन्न दुःखों की कोई कमी नहीं है। संसार की जनसंख्या सन् 1999 में 32 अरब से बढ़कर 62 अरब हो जाने की सम्भावना है। धार्मिक सिद्धान्त और विज्ञान दोनों को ही मनुष्य के कष्टों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्राचीन काल के विश्वविद्यालय

प्राचीन काल में हमारे पूर्वज आर्यों ने आश्रमों का संगठन किया जहाँ साहित्य, दर्शन और नये ज्ञान का जन्म हुआ। इन विद्वान व्यक्तियों और उनके शिष्यों का उद्देश्य उच्च चरित्र का विकास करना था। योरपीय संस्कृति और सभ्यता के जन्मदाता देश यूनान के मनीषियों द्वारा अकादमियों की स्थापना भी इसी ध्येय की पूर्ति के लिए की गई थी।

भारतवर्ष के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि यहाँ जब बौद्ध संस्कृति, दर्शन और सिद्धान्त उन्नति के उच्च शिखर पर थे तब नालन्दा और तक्षशिला में बड़े-बड़े विश्व-विद्यालय स्थापित किये गये थे जहाँ न केवल अपने देश के वरन् विदेशों के छात्र भी उत्तम शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। कविवर रवीन्द्र नाथ ने कहाथा कि "आज की सभ्यता बड़े-बड़े भवनों में निवास करती है किन्तु हमें अपनी सभ्यता और संस्कृति के लिए तपोवनों की आवश्यकता है।"

योरप में गिरजाघरों की उन्नति और प्रभाव से कई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। पेरिस विश्वविद्यालय की स्थापना एक ईसाई पादरी डॉ० सार्बान के द्वारा सन् 700 में हुई थी जहाँ पर फ्रांस के गिरजाघरों और शासन द्वारा विभिन्न देशों में जहाज भेजकर

वहाँ से बुलाये गये छात्रों को विद्वान लोग धर्म और अन्य विषयों पर भाषण देते थे। इटली के बोलोन नगर में तथा हालैण्ड के कुछ स्थानों में तथा इंगलैंड के ऑक्सफोर्ड और ग्लास्गो में 500 वर्ष से भी पहले इसी प्रकार के ज्ञान और दर्शन की संस्थायें खोली गईं जिनका मुख्य उद्देश्य मानव की आत्मा को बंधन और कष्टों से मुक्त करना था।

तकनीकी विश्वविद्यालय

विचारशील व्यक्तियों ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि अकादमियों और विश्वविद्यालयों जैसे शिक्षा संस्थानों में जीवन की व्यावहारिक समस्याओं और देश तथा राष्ट्र के औद्योगीकरण के सम्बन्ध में गम्भीरता से कोई कार्य नहीं किया जाता। जर्मनी में लगभग एक शताब्दी पूर्व सन् 1872 में सुप्रसिद्ध तकनीकी संस्थान "टेक्निशे होशूले" (Technische Hochschule) बर्लिन के शार्लोटनबर्ग में स्थापित हुआ। यह संस्थान सन् 1870-71 में हुए फ्रांस और प्रशिया के युद्ध में अपनी पराजय के फलस्वरूप फ्रांस द्वारा क्षतिपूर्ति के रूप में जर्मनी को दी गई धनराशि से स्थापित किया गया था। इस संस्थान में इसका बहुत ही विशाल और भव्य भवन है, और इसमें वाणिज्य और उद्योग के क्षेत्र में उच्च शिक्षा की व्यवस्था है। इसमें शोध कार्य भी किया जाता है। ऐसे कई संस्थान जर्मनी के विभिन्न नगरों में विद्यमान हैं। सन् 1904 तक ये सभी संस्थान विश्वविद्यालयों के अधीन थे किन्तु उसके बाद ये पूर्ण स्वतन्त्र कर दिये गये और अब इन्हें विश्वविद्यालय के समकक्ष बना दिया गया है। अब ये ऊँची से ऊँची उपाधियाँ जैसे डाक्टरेट की उपाधि स्वयं प्रदान करते हैं। ये उपाधियाँ यहाँ 5 से 7 वर्षों तक अध्ययन के पश्चात् दी जाती हैं। इन संस्थाओं की स्थापना और इनके द्वारा जीवन की दिन-प्रति-दिन की समस्याओं तथा उद्योगों पर विशेष महत्व दिये जाने के फलस्वरूप जर्मनी में उद्योग और वाणिज्य की अत्यधिक प्रगति हुई।

अमेरिका में एक शताब्दी पूर्व प्रत्येक प्रदेश में 'लैण्ड ग्रॉण्ट' कालेजों की स्थापना की गयी। कानून द्वारा प्रत्येक प्रदेश को वाध्य किया गया कि वह भूमि का एक बड़ा भाग इस कॉलेज के लिए दान दे और इस भूमि की आय केवल कृषि और तकनीकी शिक्षा में ही व्यय की जाय। कुछ वर्षों पूर्व इन संस्थानों के शताब्दी समारोह मनाये गये और यह कहा गया कि अमेरिका की समृद्धि का श्रेय बहुत अंश तक इन लैण्ड ग्रॉण्ट कॉलेजों को है जहाँ कृषि और तकनीकी विषयों की अच्छी शिक्षा दी जाती है।

सन् 1790 की फ्रांस की क्रांति के पश्चात् वहाँ नैपोलियन की प्रेरणा से शासन ने उच्च स्तर की तकनीकी संस्थायें आरम्भ कीं जिन्हें 'पॉलीटेक्निक' नाम दिया गया। इन संस्थाओं में उद्योगों के विकास और युद्ध सामग्री बनाने हेतु उच्च स्तर का तकनीकी ज्ञान दिया जाता था। आज अन्वेषण विज्ञान तथा आधुनिक उद्योगों और तकनीकी विज्ञान से

सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करने के लिए अनेक अनुसन्धान संस्थायें फ्रांस में स्थापित हैं ।

इंगलैंड में प्रथम युद्ध के पश्चात् लंदन के निकट टेडिंग्टन स्थान पर एक "राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला" स्थापित की गई जिसके प्रथम निदेशक सर गिल्बर्ट मोरगन, एफ० आर० एस० थे, जिन्होंने कोयले के उपयोग और रंग तथा वर्णक बनाने के विषय का अध्ययन और शोध किया।

इंगलैंड की "राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला" की स्थापना आज से 60 वर्ष पूर्व उपकरणों, बैटरी आदि के परीक्षण हेतु की गयी। मैनचेस्टर में विश्वविद्यालय के साथ-साथ एक तकनीकी संस्था भी लगभग 60 वर्ष पूर्व स्थापित की गयी । इंगलैंड की सरकार द्वारा स्थापित विभिन्न परमाणु ऊर्जा संस्थानों में यद्यपि नाभिकीय विखण्डन की समस्याओं का अध्ययन मुख्य रूप से किया जाता है फिर भी लन्दन के "इम्पीरियल कॉलेज आफ साइंस एण्ड टेक्नालोजी" में भी, जिसे विश्वविद्यालय का स्तर प्राप्त है, नाभिकीय विखण्डन के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों ही प्रकार के अध्ययन की अच्छी सुविधा है ।

अमेरिका में "कैलीफोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी" तथा "मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट आफ टेक्नोलोजी" जैसी विशिष्ट तकनीकी संस्थाओं में औद्योगिक और युद्ध की समस्याओं पर अमेरिका का बहुत सा धन व्यय होता है ।

विज्ञान के इतिहास की छानबीन तथा दूसरे देशों में राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के कार्यों को जाने बिना ही हमने भारत में कई राष्ट्रीय प्रयोगशालायें और परमाणु ऊर्जा तथा अन्तरिक्ष अनुसन्धान के संगठन आदि अपने औद्योगिकीकरण के लिए स्थापित किये हैं । इनसे उपलब्धि बहुत कम हुई है किन्तु व्यय बहुत अधिक हुआ है ।

तकनीकी की असफलता

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् योरप के बहुत से देशों में कृषि के प्रसार, अधिक खाद्यान्न, चारे और रेशे के उत्पादन के लिए कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी, क्योंकि युद्ध काल में नार्वे, स्वीडन, इंगलैंड और जर्मनी जैसे समृद्ध देशों में भी खाद्य की बहुत कमी हो गयी थी । इन देशों के विद्वान और नोबेल पुरस्कारविजेता जब भी आपस में मिलते थे वे मुख्य रूप से भोजन और पेय पदार्थ तथा इनके स्थान में उपयोग हो सकने वाले दूसरे भोज्य पदार्थों के सम्बन्ध में ही बातें किया करते थे ।

सन् 1914-18 के प्रथम विश्वयुद्ध के समय में इंगलैंड अपनी खाद्य की आवश्यकता का केवल 20 से 25 प्रतिशत ही उत्पादन करता था। कृषि शिक्षा और अनुसन्धान पर बहुत धन व्यय करने के फलस्वरूप आज इंगलैंड अपनी खाद्य की आवश्यकता का लगभग

40 प्रतिशत भाग उत्पन्न करने लगा है। पेरिस में सन् 1917 में मैंने देखा कि भोजन की स्थिति इंगलैंड की तुलना में कहीं अच्छी थी क्योंकि फ्रांस की कृषि की स्थिति बहुत सुदृढ़ थी और फ्रांस अपनी आवश्यकता का पूरा खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने में समर्थ था। सन् 1926 में भी बर्लिन में मैंने देखा कि वहाँ अच्छी डबलरोटी और मांस की कमी थी। बर्लिननिवासी अपने भोजन के लिए आलू पर बहुत अधिक निर्भर करते थे।

मैड्रिड में सन् 1958 और 1968 में तथा यूगोस्लाविया में सन् 1960 में खाद्य पदार्थ प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई देखी गयी। "अन्तर्राष्ट्रीय उर्वरक कांग्रेस" में जो सन् 1960 में ओपाटिया (यूगोस्लाविया) में हुई थी उस देश के रासायनिक उद्योग की ओर से एक भोज दिया गया जिसमें कांग्रेस के केवल विदेशी प्रतिनिधियों को ही आमन्त्रित किया गया था, किन्तु यूगोस्लाविया के प्रतिनिधियों ने भी इस भोज में सम्मिलित होने का हठ किया। इससे पता चलता है कि बालकन राज्यों में भी खाद्य स्थिति अच्छी नहीं है। मैं सन् 1964 में अन्तर्राष्ट्रीय मृदा कांग्रेस में भाग लेने के लिए बुखारेस्ट (रोमानिया) में 10 दिन रहा। वहाँ मैंने देखा कि कारखानों में काम करने वाले लोगों को बहुत खट्टी दही और बिना मक्खन की डबलरोटी जलपान के लिए दी जाती थी। इसके अतिरिक्त वहाँ संध्या समय गर्म खाना प्राप्त करना या पेय पदार्थ पाना बहुत कठिन था। इससे पता चलता है कि खाद्य की स्थिति बहुत से देशों में भारतवर्ष से भी अधिक खराब है।

कर्नेल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर आर० एच० ब्रेडफील्ड जो सन् 1960 में हुई सातवीं अन्तर्राष्ट्रीय मृदा विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष थे, मेरे इस वक्तव्य से सहमत नहीं हुए कि किसी देश ने चाहे वह कितना ही समृद्ध हो गया हो "मनुष्य के सबसे पुराने शत्रु भूख" पर विजय नहीं प्राप्त की है। मैंने उन्हें बतलाया कि अमेरिका की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है और जो दस प्रतिशत खाद्य सामग्री वहाँ उनकी आवश्यकता से अधिक उत्पन्न की जाती है, वह बहुत दिनों तक अतिरिक्त नहीं रह पायेगी। इस बड़े देश के विभिन्न क्षेत्र आज भी निर्धन हैं जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होगा :

"उपनिवेश स्थापित होने के समय से ही न्यूइंगलैंड (अमेरिका) में बसे किसानों को स्वयं अपना पेट भरने के लिए संघर्ष करते रहना पड़ा है। दक्षिण ऐप्लेचियन तो गरीबी का स्थायी घर ही बन गया है। भूमि की बनावट, पुरानी विधियाँ, पूँजी का अभाव और स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक भोजन की कमी, इन सब कारणों ने इस क्षेत्र के निवासियों को दुखी बना दिया है। सम्पूर्ण दक्षिण में जहाँ तम्बाकू और कपास की फसलों ने भूमि की उर्वरता समाप्त कर दी है वहाँ गाँवों में गरीबी फैली है। न्यू मेक्सिको और ऐरिजोना में विशेषकर स्पेनी, अमेरिकी और रेड इंडियन लोगों के बीच गरीबी का साम्राज्य है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व ऐतिहासिक दृष्टि से हम सबसे अधिक वस्तुओं को व्यर्थ ही नष्ट करने वाले राष्ट्र माने जाते थे। संसार में किसी भी स्थान में किसी भी राष्ट्र ने नवीन उपजाऊ भूमि

प्राप्त की हो और तीन शताब्दियों की छोटी अवधि में सदा के लिए उसके अधिक भाग की उर्वरता पूरी तरह नष्ट कर दी हो और कुछ भाग की उर्वरता को आधा कर दिया हो तथा शेष भूमि को इसी प्रकार नष्ट किया जा रहा हो, यह उदाहरण इतिहास में कहीं और देखने को नहीं मिलता । इसी तरह ओक्लाहोमा, वर्जीनिया, अलाबामा, जार्जिया, केंटुकी, उत्तरी और दक्षिणी कैरोलिना में कृषक समृद्ध नहीं हैं । कुछ ही दिन पूर्व अपने एक लेख में प्रो० डब्ल्यू बी० बोलेन ने लिखा था कि "यद्यपि अमेरिका में फसलों का अधिक उत्पादन हो रहा है पर खेत अपनी उर्वरता खो रहे हैं ।"

यद्यपि पिछले 100 वर्षों में तकनीकी ज्ञान में बहुत प्रगति हुई है फिर भी संसार में खाद्य पदार्थों की कमी में वृद्धि नहीं की जा सकी है । विभिन्न देशों के खाद्य उत्पादन के तलपट से यह स्पष्ट होता है कि पूर्वी देश, दक्षिणी अमेरिका और बाल्कन प्रदेश में खाद्य पदार्थों की कमी है । अतः हमें यह दुःखदायी सत्य स्वीकार करना होगा कि हम मनुष्य की "सर्वोपरि आवश्यकता" अर्थात् भोजन को पूरा करने में अभी तक सक्षम नहीं हो सके हैं फलस्वरूप उसे पूर्ण स्वस्थ रखने में सफल नहीं हो पाये हैं । अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि आज मानव विद्रोह करने लगा है ।

यह एक दुखद स्थिति है कि इस संसार में अधिकांश मनुष्य अभी भी निर्धन हैं । उन्हें पूरा भोजन नहीं मिलता, पहनने को वस्त्र नहीं मिलते और वे अभी भी भूखे और अशिक्षित हैं । भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, चीन, जापान, दक्षिण अमेरिका के अधिकांश देश, मिश्र, तुर्की, इटली और यूनान में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 1500 से 2500 कैलोरी ऊर्जा अपने भोजन से प्राप्त करता है । प्रतिदिन प्रति व्यक्ति जन्तु प्रोटीन 5.6 से 20.5 ग्राम तक ही मिल पाता है जबकि शरीर क्रियाविज्ञान के अनुसार हमें 2800 कैलोरी ऊर्जा और 40 ग्राम जन्तु प्रोटीन प्रतिदिन मिलना चाहिये । रूस में भी जन्तु प्रोटीन की औसत मात्रा वहाँ के निवासियों को सामान्य मात्रा से बहुत कम मिलती है । आज भी अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्था विशेषकर पूर्वी देशों और दक्षिण अमेरिका की ऐसी है जो एक शताब्दी पूर्व कहे गये कार्लमार्क्स के शब्दों में मनुष्य के कष्टों को प्रदर्शित करती है । इंगलैंड, बेल्जियम, हालैंड, स्विटजरलैंड, फिनलैंड आदि देश अपनी आवश्यकता के अनुरूप खाद्यान्न नहीं उत्पन्न कर पाते हैं परन्तु उनके पास खाद्यान्न उत्पन्न करने के साधन उपलब्ध हैं । केवल युद्ध की परिस्थितियों में ही इन देशों में खाद्य पदार्थों में कमी होती है ।

विज्ञान और तकनीकी ज्ञान में भारत

यह विश्वास किया जाता है कि मानव सभ्यता के प्रारम्भिक दिनों में लगभग 400 वर्ष ईसा के पूर्व भारत ने यूनान के समान विचारक पैदा किये । यूनान में एक दार्शनिक अरस्तू और डेमोक्राइट्स हुए तो हमारे यहाँ कपिल और कणाद हुए । इन सब विचारकों ने पदार्थ के अन्तिम कण (जिसे परमाणु कहा जाता है) के बारे में चिन्तन किया । परन्तु

प्रायोगिक विधियों के न होने से इस दिशा में अधिक उन्नति नहीं हो पायी। हमारे यहाँ जीवक (2 ईस्वी) तथा नागार्जुन (750 ईस्वी) ऐसे वैज्ञानिक हुए जो सातवीं और आठवीं सदी तक योरप में हुए वैज्ञानिकों की तुलना में कहीं अधिक अच्छे वैज्ञानिक थे, विशेषकर प्रायोगिक दृष्टिकोण से।

"रायल एशियाटिक सोसायटी" की पत्रिका (5, 390, 1939) में जे० एम० हीथ ने भारतवर्ष में लोहे और इस्पात उद्योग की प्राचीनता के सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द लिखे हैं—

"इस्पात बनाने की भारतीय विधि की प्राचीनता जितनी आश्चर्यजनक है उतनी ही कौशलपूर्ण भी है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि वे औजार जिनका उपयोग मिश्र निवासियों ने अपने मन्दिरों और चट्टानों पर चित्रों की नक्काशी करने में किया था भारतीय इस्पात के बने हुए थे। इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि प्राचीन काल के राष्ट्रों में हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य किसी भी राष्ट्र के लोगों को इस्पात बनाने की कला का ज्ञान इस युग में रहा हो। यूनानी और लातीनी लेखकों ने इस विषय पर लिख कर अपनी अनभिज्ञता का ही परिचय दिया है। वे इस्पात के गुण और उसके उपयोग के सम्बन्ध में तो जानते थे किन्तु उन्हें कच्चे लोहे से इस्पात बनाने की कला नहीं आती थी। प्राचीन समय में काटने के काम आने वाले यन्त्रों की धार ताँबे और राँगे की मिश्रधातु से बनायी जाती थी और हम निश्चित रूप से जानते हैं कि ऐसी मिश्रधातु का उपयोग पत्थरों को काटने और उनकी मूर्तियाँ बनाने में नहीं हो सकता था।"

क्विन्टस कर्टियस ने लिखा है कि जब सिकन्दर ने भारतवर्ष में पोरस के राज्य पर आक्रमण किया उस समय पोरस ने उसे भेंट में इस्पात दिया था। इस बात पर विश्वास करना कठिन लगता है कि लगभग 13-14 किलो भार का इस्पात का टुकड़ा विश्वविजयी सिकन्दर को भेंट में दी जाने योग्य वस्तु थी, यदि वह पदार्थ उस युग में पश्चिम के किसी भी देश में बनता रहा होता। मिश्र और पूर्वी देशों के बीच परस्पर सामुद्रिक व्यापार को दृष्टि में रखने पर यह तर्कसंगत जान पड़ता है कि दक्षिण भारत का इस्पात इस देश से योरप और मिश्र में पहुँचा। अतः भारतवर्ष का यह दावा कि उसने इस्पात की खोज की विवादरहित है। मनुष्य द्वारा किये गये समस्त अनुसन्धानों की तुलना में अकेले इस अनुसन्धान का प्रसार और प्रभाव कहीं अधिक व्यापक है। इसने संसार में कला और सभ्यता के विकास में योगदान दिया और निर्माण सम्बन्धी उद्योगों को जन्म दिया।"

कुतुबमीनार के पास स्थित लौह स्तम्भ तथा भारत के अन्य भागों में पाये जाने वाले इसी प्रकार के स्तम्भ आठवीं शताब्दी में या उससे पहले ढाले और बनाये गये थे। इनमें विशुद्ध लौह धातु का प्रयोग किया गया है। उस युग को दृष्टि में रखते हुए इस उच्च कोटि के लोहे ने संसार भर के लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और सबने इसकी

प्रशंसा की। आधुनिक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने यथा पेरिस के एच० ले शैटेलियर और इंगलैंड के सर रावर्ट हैडफील्ड ने प्राचीन भारत की इस उपलब्धि की बड़ी सराहना की है। सर रावर्ट हैडफील्ड ने लिखा है "योरप के लौहधातु के विशेषज्ञ प्रथम बार पिछली शताब्दी में ही ऐसे उच्च कोटि के लोहे को बनाने और उसकी ढ़लाई करने का ज्ञान प्राप्त कर सके हैं।"

कुतुबमीनार के लौहस्तम्भ में प्रयुक्त लोहे का रासायनिक विश्लेषण निम्नलिखित है—

कार्बन 0.08%	फास्फोरस 0.114%
सिलिकॉन 0.046%	मैंगनीज 0.0%
गंधक 0.006%	लोहा 99.72%

विशिष्ट गुरुत्व 7.81

इसी प्रकार दाहक क्षार (कास्टिक ऐल्कली) का बनाना और पारे तथा लोहे के यौगिकों का औषधि के रूप में उपयोग किया जाना भारतवर्ष में योरप की अपेक्षा बहुत पहले आरम्भ हुआ था। प्राचीन भारत की उपलब्धियों के लिखने वाले इतिहासकारों की कठिनाइयों को डॉ० ओ० स्प्रेंगलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "पश्चिम का पतन" (Decline of the West) में इन शब्दों में लिखा है "हिन्दू ने कभी भी अपनी किसी राष्ट्रीय या सांसारिक महत्व की उपलब्धियों को किसी रूप में लिपिबद्ध नहीं किया। इसके विपरीत मिश्रवासियों ने अपनी समस्त प्रगति और उपलब्धियों को लिपिबद्ध कर रखा है।"

आठवीं शताब्दी के पश्चात् भारत में वैज्ञानिक और प्रायोगिक कार्यों का क्रमशः ह्रास होता गया। इसके ठीक विपरीत योरप वैज्ञानिक विधियों को अपनाकर पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के उपरान्त बराबर उन्नति के पथ पर बढ़ता गया।

यह सर्वविदित है कि छठवीं शताब्दी में ही चीन के लोग बारूद बनाना जानते थे। वे कोयले और गैस का उपयोग अग्नि प्राप्त करने में योरप द्वारा इन पदार्थों के उपयोग किये जाने से बहुत पहले से करते आये थे। इन्होंने पुल निर्माण, द्रव यांत्रिकी तथा मीनाकारी और रोगन कार्यों में भी निपुणता प्राप्त कर ली थी। प्रश्न उठता है कि उन्होंने अपने इन व्यावहारिक वैज्ञानिक प्रयासों को चालू क्यों नहीं रखा और वे योरप के समान उन्नति क्यों नहीं कर पाये ? सम्भवतः इसका उत्तर यह है कि अधिकांश प्रायोगिक विधियाँ कष्टसाध्य होती हैं। इनमें अत्यधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है और इन्हीं कारणों से पूर्व के लोगों ने इन्हें उस सीमा तक नहीं अपनाया जिस सीमा तक पश्चिमी देशों ने अपनाया।

"पश्चिमी विज्ञान का मूल स्रोत मिश्र, मेसोपोटामिया तथा कुछ सीमा तक ईरान और भारतवर्ष है। नई गणित तथा नई त्रिकोणमिति दो महान विचारधाराओं के संगम का परिणाम है और ये विचारधारायें थीं यूनानी और हिन्दू।

भारतीय सभ्यता भी उतनी ही प्राचीन है जितनी की मिश्री सभ्यता। इसका प्रमाण सिन्धु नदी की घाटी में मोहनजोदड़ो में प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है जो ईसा से पूर्व 3000 वर्ष पुराने हैं और ऐसा अनुमान है कि हड़प्पा के पूर्व की सभ्यता ईसा से 4000 वर्ष पूर्व आरम्भ हुई थी। डॉ० एफ० शेरवुड टेलर ने अपनी पुस्तक "विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास" (A Short History of Science) में निम्नलिखित शब्दों में स्थिति पर प्रकाश डाला है—

"यह पूर्ण रूप से निश्चित है कि ईसा के 700 वर्ष पूर्व और 500 वर्ष पूर्व की अवधि में उच्च कोटि की बौद्धिक उन्नति हुई। संस्कृत के रूप में भारतीयों के पास एक ऐसी भाषा थी जिसके द्वारा वे अपने कठिन से कठिन भावों को शुद्ध रूप में व्यक्त कर सकते थे। भारतीय प्रतिभा मनोवैज्ञानिक थी और कोई दूसरा राष्ट्र ऐसा नियमबद्ध शब्दकोष नहीं विकसित कर पाया था जो मस्तिष्क के विचारों को ठीक रूप में व्यक्त करने में सहायक होता। प्रथम भारतीय दर्शन का प्रादुर्भाव ईसा पूर्व आठवीं और नवीं शताब्दी के मध्य यूनानी दर्शन के समकालीन ही हुआ। भारतीय चिकित्सा विज्ञान में बहुत सी औषधियाँ थीं जिनमें से अधिकांश प्रभावी जान पड़ती हैं।

"भारतीय वैज्ञानिक संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र गणित रहा है। भारतीय प्रतिभा ने ज्यामिति की अपेक्षा अंकगणित और बीजगणित की ओर अधिक ध्यान दिया। अरब निवासियों ने गणित का सर्वप्रथम ज्ञान भारत से ही प्राप्त किया और उसके बाद ही उनका सम्पर्क यूनान के महान गणितज्ञों से हुआ।"

चीन की उपलब्धियों की चर्चा करते हुए टेलर ने लिखा है "चीनी संस्कृति बहुत पहले आरम्भ हुई जो संभवतः ईसा से 3000 वर्ष पूर्व के आस-पास का काल रहा होगा। यद्यपि आरम्भ से ही चीनी विज्ञान के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा नहीं दिखला पाये पर उन्होंने कला और तकनीकी क्षेत्र में अद्वितीय उन्नति की। भारत का चीन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। परन्तु चीनी गणितज्ञ उतने उच्चकोटि के नहीं हो पाये जितने कि भारतीय गणितज्ञ।"

जनवरी सन् 1961 में रुड़की में आयोजित "भारतीय विज्ञान कांग्रेस" के अध्यक्ष के रूप में मैंने अपने भाषण में इस बात पर बल दिया था कि भारतवर्ष में विज्ञान की वर्तमान प्रगति आचार्य जगदीश चन्द्र बोस, आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय तथा आचार्य चन्द्र शेखर वेंकटरमण की विज्ञान के प्रति लगन पर आधारित है। मैंने यह भी कहा था कि गौतम

बुद्ध, अशोक, विवेकानन्द, रवीन्द्र नाथ और महात्मा गाँधी की यह प्राचीन भूमि ऐसे त्यागी वैज्ञानिकों को जन्म देने में पीछे नहीं रह सकती जो विज्ञान और तकनीकी के उपयोगों द्वारा राष्ट्र की प्रगति के लिए सतत प्रयत्नशील रहें और उसे समृद्ध बनायें।

'सभ्यता की कहानी' (The Story of Civilization) नामक पुस्तक (भाग 1) के लेखक अमेरिका के एक प्रसिद्ध इतिहासकार विल ड्यूरेण्ट ने लिखा है :

"भारतवर्ष में अत्याचार, विद्वेष और निर्धनता के वातावरण के रहने पर भी भारतवासी विज्ञान, साहित्य और कला के क्षेत्र में निरन्तर कार्य करते रहे हैं। विद्युत् और पौधों का क्रियाविज्ञान के क्षेत्र में अपने ऊँचे अनुसन्धानों से प्रो० जगदीश चन्द्र बोस ने संसार में बड़ी ख्याति अर्जित की तथा प्रकाश भौतिकी के कार्य पर प्रो० चन्द्रशेखर वेंकट रमण को नोबल पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया था। इससे पूर्व साहित्य में कविता, गीतों और धर्म सम्बन्धी लेखों द्वारा हमारे उपनिषदों के सिद्धान्तों को जनता में प्रसारित करने के उपलक्ष्य में रवीन्द्र नाथ टैगोर को नोबेल पुरस्कार दिया गया था।"

मुझे अपनी योरप और अमेरिका की अनेक यात्राओं में बराबर एक भारतीय नागरिक के रूप में इन देशों के लोगों ने अतीव स्नेह और आदर प्रदान किया। मैं सन् 1966 में बुखारेस्ट से इलाहाबाद लौट रहा था। इस यात्रा में मुझे वियना के रेलवे स्टेशन पर द्वितीय श्रेणी के प्रतीक्षालय में लगभग 20 अन्य सहयात्रियों के साथ रात भर रुकना पड़ा। आधी रात के समय टिकट चेकर और एक पुलिस अधिकारी टिकटों और पासपोर्टों की जाँच करने के लिए वहाँ आये। चूंकि मैं रोमानिया से "अन्तर्राष्ट्रीय मृदा विज्ञान कांग्रेस" में भाग लेकर लौट रहा था, मेरी जैकेट पर मेरी नामपट्टिका लगी थी जिसमें मेरा और मेरे देश भारत का नाम अंकित था। जैसे ही इन अधिकारियों ने इस पट्टिका को देखा और उन्हें मालूम हुआ कि मैं भारतवासी हूँ वे मेरे टिकट को बिना जाँचे यह कहते हुए आगे बढ़ गये "आप भारत के हैं, आप हमें धोखा नहीं देंगे।"

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के बीच में पैरासेल्सस, बेकन, बॉयल, पैलिसी तथा अन्य कई वैज्ञानिकों ने योरप में विज्ञान में प्रायोगिक विधि का उपयोग धीरे-धीरे आरम्भ किया। इनका अनुसरण ब्लैक, शीले, प्रीस्टले, डारविन, न्यूटन, कैवेंडिश, डेवी, बर्जिलियस, बुन्सन, मेंडलीफ, मेंडल, ड्यूमॉस, बोसिंगाल्ट, फैराडे, पास्तुर, रॉस, कॉक, क्यूरी दम्पति आदि ने किया और औद्योगिक विधि को स्थापित करने में बड़ी लगन से कार्य किया। इन लोगों ने विज्ञान का उपयोग जीवन की समस्त समस्याओं को सुलझाने में किया और अपने अपने देश के प्राकृतिक स्रोतों का विकास किया। अपने यहाँ की कृषि की उन्नति की और योरप को समृद्ध किया। इसके फलस्वरूप योरप में विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में लगभग 500 वर्षों तक बड़ी प्रगति हुई। योरपवासियों ने प्रायोगिक विधियों पर निर्भर करना सीखा और सच्चाई तथा लगन से प्रयोग किये और उनसे ठीक-ठीक परिणाम निकाले। इसके फलस्वरूप प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

इस सम्बन्ध में ऐम्पियर का जीवन इसका एक बड़ा अच्छा उदाहरण है। ऐम्पियर विद्युतगतिक विज्ञान के क्षेत्र का विख्यात व्यक्ति था, किन्तु उसका स्वयं का जीवन बड़ा दु:खमय था। आन्द्रे मारिया ऐम्पियर (Andre Maria Ampere) का जन्म 22 जनवरी सन् 1775 के दिन लॉयन्स (फ्रान्स) में हुआ था। उसके पिता थोक व्यापारी थे और धनी थे तथा उसकी माता धार्मिक प्रकृति की थीं। उसके पिता को फ्रांस के क्रांन्तिकारियों ने सन् 1793 में फाँसी पर चढ़ा दिया था अर्थात् लैवोजिएर से एक वर्ष पहले फाँसी दी गई थी।

ऐम्पियर अपने पिता की हत्या के समय केवल 18 वर्ष का था। अपने पिता की ऐसी मृत्यु से मानसिक रूप से वह बहुत अधिक विचलित था। अत: वह एक वर्ष तक लगभग मौन रहा। उसका पारिवारिक जीवन बहुत दु:खमय रहा किन्तु अनुसन्धान के कार्य में उसे लगातार सफलता मिली। वह विद्युतगतिक विज्ञान में सर्वश्रेष्ठ विशेषज्ञ माना गया। आज से एक शताब्दी पूर्व जेम्स क्लार्क मैक्सवेल ने उसे "विद्युत के क्षेत्र का न्यूटन" कहा था।

ऐम्पियर ने अपनी सफलता के रहस्य के बारे में लिखा था "सर्वप्रथम वैज्ञानिक तथ्यों का अवलोकन करना चाहिये और उनकी परिस्थितियों को यथासम्भव बदल-बदल कर यह अवलोकन करना आवश्यक है कि वे इन विभिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार प्रभावित होते हैं। यह अवलोकन प्रयोग और उसके प्राप्त परिणामों पर आधारित होना चाहिये जिससे बिना किसी परिकल्पना का सहारा लिए बल की प्रकृति के लिए नियम निकाले जा सकें और उसके पश्चात् इन बलों का गणितीय मान निकाल कर बल और क्रिया से सम्बन्ध बतलाने वाला सूत्र निकाला जाय। यही रास्ता न्यूटन ने अपने अनुसन्धानों में अपनाया, यही रास्ता फ्रांस के विद्वानों ने अपनाया, जिनके ही कारण आज की भौतिकी की अत्यधिक प्रगति सम्भव हो सकी है और यही पद्धति मेरे विद्युतगतिक अनुसन्धान कार्यों में मेरा मार्ग-निर्धारण करती रही।"

ईसा की आठवीं शताब्दी के उपरांत हमने अपने देश में न कोई प्रयोग किए और न प्रायोगिक विधियों को ही स्वीकार किया। सम्भवत: हमारे पिछड़ेपन का यही मुख्य कारण है और योरप के निवासियों की तरह अपने प्रयत्नों और कार्यों में लगन का न होना इसी का परिणाम है। हमारा यह दुर्भाग्य रहा कि हम पर कई विदेशी आक्रमण हुए। सत्य, प्रगति और विज्ञान के मार्ग को अपनाने के स्थान पर हम नैतिक और मानसिक दासता के शिकार हो गये। हमें यह कहने में दुख होता है कि अभी भी हमारी मानसिक दासता बनी हुई है। परिश्रम से विज्ञान के लिए कार्य करने के स्थान पर हम उन बड़े नेताओं और गण्यमान्य लोगों की चाटुकारिता से अपना स्वार्थ पूर्ण करने में लगे रहते हैं।

भारतवर्ष में आधुनिक विज्ञान का कार्य आरम्भ हुए लगभग 60 वर्ष ही हुए हैं जबकि योरप में 500 से भी अधिक वर्षों से वहाँ के वैज्ञानिक कड़ा परिश्रम कर अपने-अपने देश की उन्नति कर रहे हैं। अतः हमें धैर्य रखकर कठिन परिश्रम द्वारा अपने राष्ट्र को ऊपर उठाना चाहिए।

पांटियस पिलेट ने ईसा मसीह से पूछा "क्या आप यहूदियों के नरेश हैं?" यदि वह नहीं में उत्तर देते तो वे बच जाते, परन्तु सत्य के अनुयायी ईसा मसीह ने उत्तर दिया "मेरा साम्राज्य इस संसार का नहीं।" उन्होंने यातना और कष्टप्रद मृत्यु का वरण किया। उनके शिष्यों ने भी उन्हीं की तरह यातना, दुःख और मृत्यु को झेलते हुए ईसा मसीह के विचारों का प्रसार किया। आज की ईसाई सभ्यता, जो संसार में शासन कर रही है, ईसा मसीह और उनके लाखों अनुयायियों के बलिदानों पर आधारित है। वर्तमान सभ्यता की प्रगति अनेक वैज्ञानिकों की लगन और अत्यधिक त्याग का परिणाम है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि गौतम, अशोक, विवेकानन्द और गाँधी जैसे व्यक्तियों को उत्पन्न करने वाली भारत-भूमि करोड़ों भूखे लोगों के उत्थान के लिए लगनशील और त्यागी वैज्ञानिकों को पैदा करने में भी पीछे नहीं रह सकती।

भ्रातृभाव तथा युद्ध का उन्मूलन

मेरा यह सौभाग्य था कि 23 वर्ष की आयु में मैं शिक्षा हेतु योरप गया था। उन दिनों प्रथम विश्वयुद्ध चल रहा था जिसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ और लेखक एच० जी० वेल्स ने कहा है, "यह युद्ध सब युद्धों को समाप्त कर देगा।" लन्दन और पेरिस में तथा इंगलैंड और फ्रांस के नगरों में भाग लेने के कारण, औद्योगिक दृष्टि से उन्नतिशील, समृद्ध और विकसित राष्ट्रों के बीच हो रहे युद्ध के विनाश और तकनीकी पक्ष की मुझे पूरी जानकारी प्राप्त हुई। इन राष्ट्रों ने अपने शत्रुओं का संहार करने के लिए अच्छे से अच्छे हथियार, विस्फोटक तथा बम बनाये। मैंने इस बीच अस्त्र निरपेक्षता, असीमित पनडुब्बी अभियान, नागरिकों को भूख का कष्ट देना, रात में जेपलिन विमानों के आक्रमण, गोथा विमानों का दिन में आक्रमण आदि शब्दों का अर्थ समझा।

इंगलैंड के गिरजाघरों में ईश्वर वन्दना के समय यह दावा किया जाता था "हमारी जर्मनी के विरुद्ध हो रही लड़ाई में भगवान हमारे साथ हैं।" इसी प्रकार फ्रांस में पेरिस के प्रसिद्ध नात्रेदम गिरजाघर तथा अन्य गिरजाघरों में पादरी लोग यह कहते कि "ईश्वर मध्य योरपीय शक्तियों के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों की मदद करेगा।" जर्मनी के कैसर विलियम द्वितीय और उनके चांसलर डॉ० बैथमैन हॉलवेग, जो सचमुच में एक योग्य व्यक्ति थे और बर्लिन विश्वविद्यालय से विधि में डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर चुके थे, उनके भाषणों में हमने पढ़ा कि उनका दावा था कि भगवान जर्मनों के साथ है। एक निर्गुट राष्ट्र के समाचार संवाददाता ने व्यंग में लिखा था "ईश्वर बड़ी द्विविधा की स्थिति में है कि वह इस अप्राकृतिक और अमानवीय स्थिति में किसका साथ दे।"

मेरा यह निश्चित मत है कि समस्त संसार में युद्ध का पूर्ण रूप से उन्मूलन करने के लिए अधिकतम प्रयत्न करना चाहिए। युद्ध निश्चित रूप से मानव को नृशंस बनाता हैं और इससे मनुष्य की कोई भी समस्या नहीं सुलझती। दुर्भाग्यवश मानव इतिहास बताता है कि मनुष्य के इस पृथ्वी पर अवतीर्ण होने के समय से ही बराबर किसी न किसी रूप में युद्ध होता रहा। हमारे पुराण देवों और असुरों के संग्रामों की कहानियों से भरे पड़े हैं। हमारे ऐतिहासिक ग्रन्थ रामायण और महाभारत में भी, जिनकी समस्त संसार में प्रशंसा है, विस्तृत रूप से इसी प्रकार के दो महान संग्रामों का विवरण है। महाभारत जिसे धर्मयुद्ध कहा जाता है कौरव-पांडवों के पारस्परिक वैमनस्य और उनके बीच के युद्ध की कहानी है। इसी प्रकार लंका में हुए राम और रावण के युद्ध को भी रामायण में धर्मयुद्ध की संज्ञा दी गयी है। मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि युद्ध पूर्णतः घृणित है और प्रत्येक दशा में त्याज्य होना चाहिए। धर्मयुद्ध नाम ही भ्रामक है। ईसाई राष्ट्रों में भी जो बहुत बली है वहाँ युद्ध जैसी घृणित चीज फैली हुई है जो वास्तव में सबसे भयंकर बात है। इससे यह प्रदर्शित होता है कि मनुष्य का चारित्रिक पतन किस सीमा तक हुआ है। अतः पिछले 40 वर्षों से मैंने अपने प्रकाशित लेखों में जोर दिया है कि मानव इतिहास के इस कलंक को पूर्णतः मिटाना आवश्यक है। संसार का सबसे अधिक धनी और औद्योगिक प्रगति वाला देश अमेरिका नैतिकता की असफलता में अग्रणी रहा है। सोवियत रूस मानव जीवन के सुधार में अच्छी प्रगति कर रहा है और सैनिक शक्ति में भी बहुत सुदृढ़ होता जा रहा है। अमेरिका, इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी की सैनिक गतिविधियों में रूस ही सबसे अधिक बाधक है। विज्ञान के इस दुरुपयोग की छाया पूरी मानव जाति पर पड़ रही है जिसके कारण मानव का पूर्ण विनाश हो सकता है। दूसरे शब्दों में, आज सम्पूर्ण मानवता अपने विनाश के कगार पर खड़ी है।

इस विनाश से बचने का क्या उपाय है? इस सम्बन्ध में मानव जाति में विश्व-बन्धुत्व की भावना उत्पन्न करना ही एकमात्र उपाय है। यूनेस्को की पत्रिका 'प्रकृति और स्रोत' (वाल्यूम 10, नं० 4, दिनांक 4.12.1974) में छपे अपने लेख "पारिस्थितिक अधिकार की ओर" में अमेरिका के पारिस्थितिकीविद और राजनीतिज्ञ सर डब्ल्यू० पीटरसन ने इस स्थिति पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है, "मैंने अगस्त 1974 में बुखारेस्ट में संयुक्त राष्ट्र द्वारा आयोजित विश्व जनसंख्या सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन में जनसंख्या पर ही विशेष बल दिया गया। इसके अन्तर्गत विशेष रूप से यह विचार किया गया कि इस सीमित संसार में पारिस्थितिकीय आधारभूत सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए कितने मनुष्यों का उचित रूप में भरणपोषण हो सकता है और जनसंख्या का संसार के जीवमंडल पर क्या प्रभाव पड़ता है।"

इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य जनसंख्या का हमारे उपलब्ध साधनों, वातावरण और सब जगह के लोगों के जीवन-स्तर पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह जानना था। अधिकांश प्रतिनिधियों की यह तीव्र भावना थी कि इस प्रश्न को तुरन्त सुलझाया जाय।

निर्धनता में रहने वाले व्यक्तियों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। खाद्य की कमी, स्रोतों का क्रमिक ह्रास, प्रदूषण, मुद्रा स्फीति, सघनता, जगह की कमी, बेरोजगारी, भोजन और ईंधन की दिन-प्रति-दिन बहुत अधिक बढ़ती कीमतें अधिक जटिल होती जा रही हैं। एक ओर प्रत्येक समस्या के समाधान का प्रयत्न होता है किन्तु दूसरी ओर विश्व की जनसंख्या के तीव्रता से बढ़ने के फलस्वरूप वह समस्या अधिक जटिल होती जाती है और उसका सुलझाव और कठिन होता जाता है।

खाद्य और कृषि संगठन (एफ० ए० ओ०) के अनुसार विकासशील राष्ट्रों में 20% लोग न्यून पोषण तथा 60% कुपोषण से ग्रस्त हैं। खाद्य और कृषि संगठन के अनुसार विश्व में स्वच्छ जल की माँग इस शताब्दी के अन्त तक 240% बढ़ जायगी। जिन स्थानों में जल की आवश्यकता है वहाँ इतनी मात्रा में जल नहीं प्राप्य हो सकेगा। समुद्र के पानी को नमकरहित और पीने योग्य बनाना और उसका परिवहन बहुत मँहगा होगा। मुझे अशंका है कि कहीं सम्पूर्ण विश्व को ऐसी स्थिति का सामना न करना पड़े जैसी कि गैरेट हार्डिन ने अपनी कहानी 'ट्रेजडी आफ कामन्स' में बतायी है। उसका संदेश कुछ इस प्रकार है—

"एक किसान ने अपनी भेड़ों को गाँव के सार्वजनिक हरे-भरे चारागाह में चराना आरम्भ किया। इस चारागाह में पेटभर अच्छी घास खाने को मिलने से उसकी भेड़ें हृष्ट-पुष्ट हो गयीं और उन्होंने अच्छी संख्या में नई भेड़ों को जन्म दिया। इससे किसान समृद्ध और प्रसन्न हुआ। उस किसान की समृद्धि देखकर एक दूसरे किसान ने भी अपनी भेड़ों को उसी चारागाह में छोड़ दिया और बाद में तीसरे, फिर चौथे और फिर इसी प्रकार एक के बाद अन्य किसान वहाँ अपनी भेड़ें चरने के लिए छोड़ते रहे। शीघ्र ही अधिक भेड़ों द्वारा चरने के कारण वहाँ की घास समाप्त हो गयी और भेड़ें भी समाप्त हो गयीं। किसानों ने आपस में लड़ना आरम्भ कर दिया। उन्होंने अपनी करनी से ही समस्त चारागाह को नष्ट कर दिया था। चारागाह जितनी भेड़ों का निर्वाह कर सकता था उससे कहीं अधिक संख्या भेड़ों की वहाँ रख दी गयी थी।" हमारी पृथ्वी पर भी ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है। वास्तव में अफ्रीका के साहेल नामक स्थान में ऐसा घटित भी हो चुका है और जो कुछ साहेल में हुआ है उसकी पुनरावृत्ति विश्व में कहीं भी हो सकती है।

सन् 1950 में लगभग 21 मिलियन टन मछली विश्व के जलाशयों से पकड़ी गयी और मत्स्य पकड़ने के लिए बनाये गये जहाजों में वृद्धि, उनके उपकरणों के सुधार आदि से सन् 1960 में यह मात्रा 40 मिलियन टन और सन् 1970 में 70 मिलियन टन हो गया। इसके बाद से इस मात्रा में गिरावट आने लगी और सन् 1973 में 65 मिलियन टन ही रह गयी। क्या मनुष्य समुद्रों की मछलियों के उत्पन्न करने की क्षमता से कहीं अधिक उन्हें पकड़ने के अपने कार्य में आगे तो नहीं बढ़ गया ? कुछ लोगों का विचार ऐसा ही है क्योंकि एक ओर तो मनुष्य के द्वारा अधिक मात्रा में मछली पकड़ने के कारण और दूसरी ओर मछलियों के पालन के स्थानों जैसे समुद्र और नदियों में प्रदूषण फैलाने के कारण ऐसा

हुआ है । मनुष्य ने प्रायः प्राकृतिक साधनों का आवश्यकता से अधिक दोहन किया हैं जिसके फलस्वरूप सम्बन्धित स्थानों में विनाश की स्थिति उत्पन्न हुई है । आज से 40 वर्ष पूर्व अमेरिका का ओक्लाहोमा 'धूल का कटोरा' इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है । साहेल के चारागाहों में पशुओं को सीमा से अधिक चराने और बंगला देश की बाढ़, जो जंगलों के बहुत अधिक काटने का परिणाम है, मनुष्य द्वारा उत्पन्न किए गए विनाश के आधुनिक उदाहरण हैं । ओक्लाहोमा में धूल की अधिकता के कारण वहाँ के किसानों को कैलीफोर्निया स्थानान्तरित होना पड़ा । आज अधिकांश देशों में नये स्थानों की कमी है जहाँ मनुष्य जा सकें । हमें चेतावनी मिलती रहती है कि हमारी पृथ्वी अपनी क्षमता से कहीं अधिक सहन कर रही है और यदि इस स्थिति को सुधारा नहीं गया तो महान विनाश अवश्यम्भावी है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हम इस चेतावनी पर ध्यान देंगे ? आर्थिक उन्नति तथा स्रोतों के लगातार दोहन से वातावरण की शुद्धता के लिए भयंकर संकट उत्पन्न होता जा रहा है । परन्तु हम क्या प्रदूषण नियंत्रण तथा स्रोतों के उचित विधियों से उपयोग द्वारा अपनी आवश्यक आर्थिक प्रगति को संतुलित रखने में समर्थ हो सके हैं ? पिछले वर्षों में हमने ऐसा नहीं किया है । सन् 1950 में जब विश्व का कुल उत्पादन पहली बार एक ट्रिलियन (एक मिलियन मिलियन) डालर तक पहुँचा था, तब प्रदूषण पर ध्यान नहीं दिया गया । किन्तु अब यह लगभग 3.5 ट्रिलियन पहुँच चुका है और इस शताब्दी के अन्त तक इसके 12 ट्रिलियन डालर तक पहुँचने की सम्भावना है तब संसार भर में पर्यावरण की शुद्धता के प्रश्न को प्राथमिकता दी जा रही है क्योंकि प्रदूषण का सबसे मुख्य कारण आर्थिक उन्नति है जो पिछले 23 वर्षों में तीन गुनी से भी अधिक बढ़ गई है ।

आर्थिक गतिविधियों के बढ़ने का हमारे पर्यावरण पर बहुत अधिक दबाव पड़ता रहेगा । यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि विकासशील देश यद्यपि अपने नागरिकों के भरण-पोषण में उच्चस्तर नहीं रख सकते पर उनके पर्यावरण का प्रदूषण विकसित देशों की अपेक्षा कम है ।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि विकसित देश जनसंख्या के नियंत्रण पर विशेष ध्यान दें जिससे वातावरण के अधिक प्रदूषित हो जाने से उनका आर्थिक उत्थान भी एकदम न गिर जाये । इसके साथ ही उन्नतिशील राष्ट्रों के लिये यह बुद्धिमानी की बात होगी कि वे आर्थिक उन्नति का विकसित देशों पर जो प्रभाव पड़ा है उससे शिक्षा ग्रहण करें । यह अधिक सरल और कम खर्चीला है कि किसी औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ से ही पर्यावरण के प्रदूषण पर नियंत्रण रखा जाय, न कि उसके प्रदूषित हो जाने के बाद उसे शुद्ध करने के लिए कोई बड़ा अभियान चलाया जाय ।

यह विशेष महत्व की बात होगी कि सभी राष्ट्र और विशेषकर विकसित राष्ट्र अपने अपने देश के स्रोतों को नष्ट होने से रोकने के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करें और अपने स्रोतों का उपभोग कुशलता से करें। उदाहरण के लिए, ऊर्जा के उपभोग में बचत करने के अनेक उपाय किये जा सकते हैं। अमेरिका में एक बृहत् संरक्षण योजना की कल्पना की गई है जिसमें सब प्रकार के अपव्यय को रोका जायगा और अपशिष्ट पदार्थों को पुनः उपयोग में लाने के योग्य बनाया जायगा तथा स्रोतों को उपयोग उचित ढंग से नियंत्रित किया जायगा।

प्रत्येक मनुष्य का जीवन-स्तर ऊँचा हो इसके लिए सारे विश्व के लोग प्रयत्नशील हैं और इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य की आर्थिक स्थिति पर्याप्त रूप में अच्छी हो जिससे वह जीवन की मुख्य आवश्यकतायें—उचित भोजन, स्वास्थ्य और रहने का घर—प्राप्त कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें अपने पर्यावरण को प्रदूषण से बचाना और स्रोतों का संरक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु सबसे महत्व की बात तो यह है कि हम अपनी जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगायें जिससे लोगों का जीवन-स्तर अच्छा रह सके। अमेरिका में खाद्य पदार्थों के उत्पादन में कमी और नौकरियों (वैज्ञानिक कार्य करने वालों) की संख्या में वृद्धि के फलस्वरूप पर्यावरण पर उद्योगों के प्रदूषण का प्रभाव घट गया है। हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का अधिकांश भाग वैज्ञानिक लोगों पर व्यय हो रहा है और ऐसा अनुमान किया जाता है कि भविष्य में भी नौकरी के व्यवसाय में ही वृद्धि होगी, उत्पादन में नहीं।

परन्तु हम जानते हैं कि आर्थिक वृद्धि और पर्यावरण की सुरक्षा के संतुलन का हमारा प्रयत्न तभी सफल होगा जब हम अपनी जनसंख्या घटाने में सफल होंगे। जैसा कि अमेरिका की जनसंख्या समिति ने कुछ वर्षों पूर्व इंगित किया था कि जनसंख्या की अधिक वृद्धि से हमें कोई लाभ नहीं होगा। यह तथ्य इसे स्वीकार करता है कि अमेरिका की क्षमता अधिक जनसंख्या का भार वहन करने में असमर्थ है। इसी प्रकार पूरे संसार में अपनी जनसंख्या का निर्वाह करने की शक्ति सीमित है। हम सबको मिलकर इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि हम इस सीमा के भीतर ही रहें।

कितनी जनसंख्या तक का निर्वाह इस पृथ्वी पर ठीक से हो सकता है और साथ ही मनुष्य को इसके अन्तर्गत किस प्रकार जीवन-यापन करना चाहिए, यह सब जानने के लिए हमें पारिस्थितिकी का ज्ञान और योग्यता की आवश्यकता है। किन्तु पारिस्थितिकी के सिद्धान्तों पर हमारा विश्वास इससे कहीं अधिक है। हमारे वातावरण के बीच व्याप्त अन्तर्सम्बन्ध मनुष्यों पर भी लागू होता है।

यूनेस्को के प्रथम महानिदेशक जूलियन हक्सले ने कहा था "मनुष्य का लक्ष्य

अधिकांश मानवों का कल्याण है" । इसी प्रकार वर्षों पूर्व जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा था "मनुष्य को अधिकांश लोगों के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए" । एच० जी० वेल्स (1940) ने भी लिखा है :

"हमारी निर्धनता, हमारी बाध्यतायें, हमारी व्याधियाँ, हमारे झगड़े तथा पारस्परिक मतभेद हमारे व्यवहारों से नियंत्रित किये जा सकते हैं। हमारे लिए यह अनुभव कर सकना कि इन सब चीजों के न रहने पर जीवन में हमारी कैसी भावना होगी, उतना ही कठिन है जितना कि एक निर्धन, गन्दे और भूखे और नंगे रहने वाले व्यक्ति के लिए यह कल्पना कर सकना कि प्रतिदिन नहाने, सदा अच्छे वस्त्र पहनने, आनन्द के लिए पहाड़ों पर घूमने और अच्छा खाना और रहना प्राप्त होने तथा वायुयानों में उड़ने आदि का अवसर मिलने पर उसकी क्या भावना होगी । ऐसा समय जब सब मनुष्यों के लिए सब चीजें अच्छी प्राप्त होंगी हमारे अनुमान से पहले भी आ सकता है । ऐसा व्यक्ति जो इसमें विश्वास करता है वह ऐसे अच्छे समय को निकट लाता है और जो इस पर विश्वास नहीं करता वह इसके लाने में विलम्ब करता है ।

भविष्य में आने वाली निराशाओं और आश्चर्यों को कोई भी पहले से नहीं बतला सकता । हमारे मानव इतिहास में एक अध्याय लिखते लिखते ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं कि अनेक अध्याय जिनकी अभी हमें कल्पना भी नहीं है इनका लिखना आवश्यक हो जाय, जो उतने ही विस्तृत तथा आपसी झगड़ों और तनावों के वर्णन से भरपूर हों जैसे हमारे अनेक शक्तिशाली राष्ट्रों के पारस्परिक मतभेद और झगड़ों के कारण है । विश्व में दुखदायी आर्थिक संघर्ष एक जाति का दूसरी जाति से और एक वर्ग का दूसरे वर्ग से भयंकर संघर्ष हो सकता है । जब तक एक दूसरी महान विनाशकारी क्रान्ति न हो तब तक सामान्य लोगों को सेवा की भावना की शिक्षा नहीं मिलेगी । हम इस सम्बन्ध में न कुछ जानते हैं और न ही कुछ बता सकते हैं किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि यह अनावश्यक विनाश है जिसे रोका भी नहीं जा सकता है। साथ ही यह भयंकर विनाश की परिस्थिति है। मनुष्य इतिहास, शिक्षा और विनाश के बीच की दौड़ सा बनता जा रहा है । इस विनाश ने ईसाई-वाद के मानव एकता के प्रयासों को और यान्त्रिकी के एकात्मकता के प्रभावों को सदा नीचा दिखलाया है। विनाश की इन पर विजय हुई है । हम बता नहीं सकते कि विनाश को अभी कितनी विजय और प्राप्त करनी है तथा कितने अभागों का जीवन अभी नष्ट होना है।"

विज्ञान के अनुचित उपयोग के फलस्वरूप उत्पन्न हुई संसार की जटिल और कष्टमय स्थितियों को देखकर प्रो० जे० ड्यूक्लो (J. Duclaux) ने 9 अक्टूबर 1973 को अपनी 97 वर्ष की आयु में मुझे एक बहुत ही निराशाजनक पत्र भेजा जिसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि उनका विज्ञान से विश्वास उठ गया है और उन्हें प्राय: यह पश्चाताप होता है कि उन्होंने विज्ञान की सेवा क्यों की और जो भी सेवा उन्होंने की उससे संसार का कोई लाभ नहीं हुआ । परन्तु मुझे अभी भी अपनी 83½ वर्ष की आयु में विज्ञान की

क्षमता पर यह बड़ा विश्वास है कि विज्ञान मनुष्य की नैतिक और भौतिक दोनों ही रूप में सेवा कर सकता है। मैंने प्रो० ड्यूक्लो को निम्नलिखित पत्र लिखा—

आदरणीय प्रो० ड्यूक्लो,

आप कोलायड विज्ञान के प्रमुख वैज्ञानिक रहे हैं। आपने इस क्षेत्र में सन् 1900 से बड़ी कुशलता और लगन से कार्य किया है। इस प्रकार आपने 70 वर्ष तक इस क्षेत्र में कार्य किया। इतने समय तक किसी अन्य वैज्ञानिक ने कार्य नहीं किया—न तो नोबेल पुरस्कार विजेता प्रो० आर० जिगमांडी ने और न स्वेडवर्ग या टाइसिलियस ने। निश्चय ही यह किसी भी व्यक्ति के लिए गर्व की बात है। मेरी आयु लगभग 82 वर्ष की है और मैंने लगभग 66 वर्ष तक विज्ञान की सेवा लगन से की है, क्योंकि मैं विश्वास करता हूँ कि विज्ञान की सेवा से दो मुख्य लाभ हैं—इससे जहाँ एक ओर स्वयं वैज्ञानिक का व्यवहार ऊँचा होता है और उसका चारित्रिक उत्थान होता है, वहीं दूसरी ओर विज्ञान के अन्वेषण राष्ट्र के प्रौद्योगिक विकास और कृषि की प्रगति में सहायक होते हैं जिससे राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सुधरती है।

आपको तथा मैडम ड्यूक्लो को आदर सहित

आपका शुभैषी

एन० आर० धर

जनसंख्या के असीम प्रसार के कारण मनुष्य को अपने जीवन की आवश्यकताओं को जुटाने के लिए बड़ा संघर्ष करना पड़ता है। दिन-प्रति-दिन यह संघर्ष कठिन होता जा रहा है और मनुष्य की आवश्यकतायें भी बढ़ती जा रही हैं। हमारा यह पुराना सिद्धान्त जो आज बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है, कि जब मनुष्य की जीवन सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी नहीं होतीं तब उसके चरित्र का पतन होने लगता है और ऐसा मनुष्य जो बहुत निर्धन अवस्था में हैं कभी भी पूर्णरूप से ईमानदार नहीं रह सकता। साथ ही यह तथ्य भी सत्य है कि एक परिवार में बहुत अधिक बच्चों के होने का अर्थ है निर्धनता।

समाचारपत्रों और एक देश से दूसरे देश में शीघ्रता से आ जा सकने की सुविधा के कारण संसार भर के मनुष्य परस्पर बँध गए हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश अधिक संख्या निर्धनों की है और वे धनी लोगों का अनुकरण करना चाहते हैं।

फ्रांस में सन् 1968 में पेरिस तथा अन्य क्षेत्रों में एक बड़ी हड़ताल हुई। फ्रांस के विचारशील लोगों ने इस हड़ताल का कारण फ्रांस के नागरिकों का असंतोष बतलाया जो प्रतिदिन अमेरिका, कनाडा, इंगलैंड तथा दूसरे धनी देशों से आये पर्यटकों को बहुत खुले हाथ खर्च करते देखा करते थे। फ्रांस के नागरिक की औसत आय इन धनी देशों के सामान्य नागरिकों की तुलना में बहुत कम थी और इसीलिए एक औसत फ्रांसीसी अपने

देश की दशा से संतुष्ट नहीं था और चाहता था कि उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार हो। इसके अतिरिक्त आजकल उपभोक्ता वस्तुओं का प्रति व्यक्ति उपयोग बढ़ गया है जिससे उनका दिन प्रति-दिन का व्यय बढ़ गया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश अतिविकसित देशों में तथा कुछ विकसित देशों में भी एक सामान्य नागरिक, विशेषकर महिलायें पुराने समय की अपेक्षा कहीं सुन्दर और आकर्षक वस्त्र धारण करती हैं किन्तु उनके भोजन के प्रकार का स्तर घटता जा रहा है। अतः भारतवर्ष ही नहीं वरन् एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका के राज्यों में एक असंतोष सा फैला है। प्रत्येक व्यक्ति अपने रहन-सहन को ऊँचा और आरामप्रद बनाता चाहता है। परन्तु विश्व के स्रोत असीमित नहीं हैं अतः औद्योगिक स्तर की दृष्टि से अविकसित राष्ट्रों को अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने के हेतु तकनीकी ज्ञान बढ़ाना होगा। उन्नति और सफलता का कोई एक सरल मार्ग नहीं है। व्यक्तियों और राष्ट्रों का अपना लोभ वहाँ के मनुष्यों के चरित्र को नष्ट करता है। इस लोभ पर सच्चाई, ईमानदारी, परिश्रम तथा व्यक्तिगत लाभ का बलिदान करके विजय प्राप्त की जा सकती है तथा निर्धनता की स्थिति में सुधार किया जा सकता है। यह निश्चय ही एक बहुत कठिन समस्या है क्योंकि मनुष्य में अपनी रक्षा की नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है और इस कारण वह मुख्य रूप से स्वार्थी होता है।

कुछ समय पूर्व इंगलैण्ड बहुत शक्तिशाली देश था। जर्मनी ने बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्पष्ट रूप से यह कहा था कि हमें इंगलैण्ड के व्यापार और उसकी औद्योगिक श्रेष्ठता को छीनने के लिए युद्ध में इंगलैण्ड को परास्त करना होगा। नोबेल पुरस्कार प्राप्त जर्मनी के रसायनज्ञ विल्हेल्म ओस्टवाल्ड का कथन है :

"यह निश्चय ही दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि योरप के लोग अन्तर्राष्ट्रीय होने की अपेक्षा अधिक राष्ट्रीय हैं। राष्ट्रों की परस्पर की ईर्ष्या योरप में अनेकों युद्धों का कारण रही। मैं आजकल फ्रांस और जर्मनी के वैज्ञानिकों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय समारोहों में परस्पर यथेष्ट सहयोग और सद्भावना देख रहा हूँ यद्यपि 19वीं और 20वीं शताब्दी में ये दोनों राष्ट्र प्रायः परस्पर युद्धरत रहे। यह भी एक रोचक बात है कि इंगलैण्ड के बहुत से वैज्ञानिकों ने अपनी डाक्टरेट की उपाधियाँ जर्मनी में प्राप्त की थीं तथा प्रसिद्ध जर्मन रसायनज्ञ बेरॉन लीबिग जो, एक ऊँचे अन्वेषक थे और गिसेन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे, अपने प्रसिद्ध शिष्य हॉफमैन को लंदन में विज्ञान के रॉयल कॉलेज का संगठन करने के लिए भेजा जिसके माध्यम से इंगलैड के युवकों को उचित शिक्षा प्राप्त हो सके। रानी विक्टोरिया के पति प्रिंस अलवर्ट ने, जो जन्म से जर्मन थे, प्रोफेसर लीबिग को इंगलैण्ड में आमंत्रित किया कि वे उन्हें इंगलैण्ड में उचित शिक्षा और उसके औद्योगिकीकरण के सम्वन्ध में परामर्श दे सकें। प्रोफेसर लीबिग की यात्रा सफल यात्रा रही। उन्होंने इस बीच इंगलैण्ड के कई शिक्षा केन्द्रों का निरीक्षण किया और बतलाया कि

इंगलैण्ड का वातावरण विज्ञान के लिए उपयुक्त नहीं है। उन दिनों इंगलैण्ड के रसायनज्ञों को स्वयं को रसायनज्ञ कहलाने में लज्जा आती थी क्योंकि वहाँ रसायनज्ञ (केमिस्ट) दवाइयों के विक्रेताओं को कहा जाता था। उन्होंने प्रिंस अलबर्ट को परामर्श दिया कि वे विज्ञान की शिक्षा तथा अन्वेषण-कार्यों को आधुनिक रूप में संगठित करने के लिए लंदन के दक्षिण केन्सिंग्टन स्थान में विज्ञान और तकनीकी का एक राजकीय महाविद्यालय स्थापित करें। उनके इस परामर्श पर दक्षिण केन्सिंग्टन में "रायल कॉलेज ऑफ साइंस एंड टेक्नोलोजी" की स्थापना की गई। इसके प्रथम निदेशक स्वयं लीविथ के शिष्य हॉफमैन नियुक्त किये गये। सत्तर वर्ष की अवधि में विज्ञान तथा तकनीकी की तीव्र प्रगति से वहाँ रसायन उद्योग, औषधियाँ, रंग-रोगन और बहुमूल्य वैज्ञानिक उपकरणों का विकास हुआ। परन्तु आज से 60 वर्ष पूर्व जब मैं इंगलैण्ड के कॉलेज में शिक्षा प्राप्त कर रहा था तब प्रायः वहाँ विचारक और प्रोफेसर कहा करते थे कि इंगलैण्ड की राष्ट्रीय सम्पन्नता सामान्य नागरिक को उसी गलत मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित कर रही है जिस पर चल कर वैभवपूर्ण रोम साम्राज्य का पतन हुआ था।

यह सर्वविदित है कि आधुनिक संसार में बड़ी मात्रा में अपव्यय हो रहा है—धनी राष्ट्रों में अधिक, निर्धन देशों में कुछ कम। अमेरिका, कनाडा, पश्चिमी योरप, रूस और जापान में जितना ईंधन जलता है वह पूरे संसार में जलने वाले ईंधन का 70% होता है। इन ईंधनों के जलने पर उनसे कई प्रकार के हनिकारक पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो जनसाधारण के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। ऊर्जा का यह अपव्यय न केवल राष्ट्रों के ऋण में वृद्धि करता है वरन् बड़ी मात्रा में प्रदूषण भी उत्पन्न करता है जिसे रोकने के लिए हमें बहुत अधिक प्रयत्न करना पड़ रहा है।

धनी लोगों में, विशेषतः पाश्चात्य देशों में, शराब पीना, सिगरेट पीना जैसी आदतें पड़ती जा रही हैं और इनके प्रभाव से मानसिक विकृतियाँ भी तेजी से बढ़ रही हैं (जिनके फलस्वरूप विवाहित लोगों के बीच मतभेद और विभिन्न समस्यायें उत्पन्न होती हैं)।

इसमें सन्देह नहीं कि अविकसित देशों में धनी देशों की अपेक्षा अधिक जनसंख्या निवास करती है। ऐसा अनुमान किया गया है कि सन् 1980 तक संसार की जनसंख्या 3075 मिलियन हो जाने की संभावना है। इसका परिणाम यह होगा कि निर्धन देशों में जनसंख्या का घनत्व प्रतिकिलोमीटर 42 हो जायगा तथा धनी देशों में यह 27 के आस पास होगा और यहाँ जीवन की औसत आयु में कमी आयगी। पहले समृद्ध देशों में मनुष्य की औसत आयु 70-71 वर्ष थी किन्तु अब कई कारणों से घटकर यह 68 ही रह गई है। ये सब बातें पश्चिमी देशों और जापान के लिए घातक हो सकती हैं।

मेरा अपना विचार है कि हमें समृद्ध राष्ट्रों की नकल नहीं करनी चाहिए। इसके

विपरीत हमें शान्ति और प्रेम की महान परम्परा तथा अपना चारित्रिक बल बनाये रखना चाहिए जो वास्तव में मानव का उद्धारक है। ऐसा लगता है कि राष्ट्रीय समृद्धि चरित्र को क्षीण कर देती है परन्तु यदि अत्यन्त त्याग की भावना के साथ कार्य किया जाय तो सच्ची प्रगति होती है और राष्ट्र का वास्तविक उत्थान होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को धनी राष्ट्रों को हथियार न बनाने तथा निर्धन राष्ट्रों के हाथ न बेचने के लिए बाध्य करना चाहिए। प्रथम विश्व युद्ध के काल में विभिन्न देशों में प्राप्त हुए अपने अनुभवों तथा इस पुस्तक में दिये गए कई तथ्यों के आधार पर मुझे इसमें कोई शंका नहीं है कि आज विश्व के अधिकांश भागों में या तो युद्ध हो रहे हैं या उनकी सम्भावनायें बढ़ती जा रही हैं। युद्ध में लिप्त संसार में मानव विनाश के लिए परमाणु बम, हाइड्रोजन बम तथा अन्य विनाशकारी आयुधों का निर्माण वास्तव में चिन्तनीय है। मनुष्य का अस्तित्व इस पृथ्वी पर नहीं रह सकेगा यदि धार्मिक शिक्षा द्वारा समस्त राष्ट्रों का चारित्रिक उन्नयन नहीं किया जाता और उनमें त्याग की भावना तथा मनुष्यों के बीच घृणा की भावना समाप्त कर परस्पर भ्रातृभाव की स्थापना नहीं की जाती। इस उद्देश्य की पूर्ति शासन के कर्णधारों के प्रयत्नों और संसार के नागरिकों के बहुत अधिक प्रयत्न से ही हो सकती है।

आज हमारे बीच में सहस्रों अन्तर्राष्ट्रीय संगठन हैं जो मनुष्य के कल्याण के सम्बन्ध में विचार करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे यूनेस्को, विश्व खाद्य संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं के लिये यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि वे उन शक्तिशाली राष्ट्रों को जो युद्ध के अस्त्र-शस्त्र बनाकर अविकसित राष्ट्रों के हाथ बेचते हैं, बाध्य करें कि वे ऐसा न करें। ये धनी राष्ट्र अस्त्र-शस्त्र बनाकर विभिन्न राष्ट्रों के हाथ बेचने के कारण और अधिक धनी होते जा रहे हैं और निर्धन राष्ट्र और अधिक निर्धन होते जा रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को इस पापपूर्ण कार्य को रोकना चाहिए। सद् प्रस्ताव पारित करना भ्रातृभाव की भावना उत्पन्न करने तथा मनुष्यों को एक सूत्र में बाँधने के लिए अधिनियम और नियम बनाना, खाद्य सम्भरण, जन स्वास्थ्य में सुधार आदि निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं किन्तु सम्प्रति राष्ट्र का सबसे अधिक व्यय सुरक्षा के लिए होता है। इस अनुपयोगी और हानिकारक व्यय को इस पृथ्वी से पूर्णतः समाप्त कर देना चाहिए। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें चारित्रिक सिद्धान्तों का पालन करें और न्याय के पक्ष को प्रोत्साहन दें तथा युद्ध से संसार की मुक्ति के हेतु प्रयत्न करें तो हम निश्चय ही मानव का कल्याण करने में सफल हो सकेंगे। अलंकारिक शब्दों में सद्प्रस्तावों को केवल पारित कर देने से ही उन्मत्त विश्व को अधिक ऊँचा नहीं उठाया जा सकता।

जब इंगलैण्ड और फ्रांस आपस में लड़ रहे थे तब फ्रांस के सम्राट नेपोलियन ने इंगलैण्ड के प्रसिद्ध रसायन सर हम्फ्री डेवी (1778-1829) को फ्रांस की विज्ञान अकादमी

की बैठक में सम्मिलित होने के लिए फ्रान्स में आने की अनुमति दी थी। फ्रांस और प्रशिया (जर्मनी) के युद्ध के काल में जब फ्रांस और जर्मनी के बीच युद्ध हो रहा था, उस समय जर्मनी के एक प्रसिद्ध रसायनज्ञ लीबिग ने सन् 1871 में अपने प्रकाशन में फ्रांस के लोगों की बड़ी प्रशंसा की थी।

सन् 1914-18 के प्रथम विश्व युद्ध के समय इंगलैण्ड और फ्रांस के सभी नागरिक एकजुट होकर जर्मनी तथा आस्ट्रिया की सेनाओं का मुकाबला कर रहे थे और इनमें से बहुत से नागरिक युद्ध के अन्य प्रकार के कार्य भी कर रहे थे। युद्धरत राष्ट्रों के समाचार-पत्र शत्रु राष्ट्रों के विरुद्ध विष-वमन कर रहे थे। इस प्रकार इस युद्ध में, जो चार वर्षों तक चला, पुराने समय की भाँति केवल सेनायें ही नहीं लड़ रही थीं, वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध कर रहे थे।

एशिया, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका आदि निर्धन राष्ट्रों की जनता में भी राष्ट्रीय चेतना आ गई है। ये राष्ट्र भी यह कहने लगे हैं कि योरप या अमेरिका की सहायता या हस्तक्षेप की उन्हें आवश्यकता नहीं है, वे स्वयं ही अपने देश की समस्याओं को सुलझा सकते हैं। अतः ऐसा लगता है कि भविष्य में ऐसा बड़ा युद्ध नहीं होगा जिसमें विश्व की अधिकांश जनता भाग ले। रूस जिसकी जनसंख्या 30 करोड़ है, चीन जिसकी जनसंख्या 80 करोड़ है और भारतवर्ष जिसकी जनसंख्या लगभग 60 करोड़ है, यह नहीं चाहते कि कोई युद्ध हो। अमेरिका, इंगलैण्ड और फ्रांस जैसे शक्तिशाली राष्ट्र जो विकास-शील देशों के हाथ अस्त्र-शस्त्र विक्रय कर धन कमाते हैं वे भी संभवतः कोई बड़ा युद्ध आरम्भ करने में हिचकें। यह एक संतोष का विषय है और राष्ट्रीय जागृति का परिचायक है।

किसी भी समाज का सच्चा ध्येय वहाँ के पुरुषों और स्त्रियों को ऊँचा उठाना है और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है जिनमें उनका सर्वांगीण विकास उचित रूप में हो सके। "ज्ञान स्वयं ज्ञान के लिए हो और इसका उपयोग किस रूप में किया जाता है इसकी चिन्ता न की जाय" इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप ही समस्त भौतिक प्रगति को विज्ञान ने जन्म दिया है। किन्तु आज मानव कल्याण से सम्बन्धित योजनाओं (शिक्षा, खाद्य, परिवहन) पर रक्षा, अन्तरिक्ष, कम्प्यूटर, परमाणु-ऊर्जा पर हो रहे व्यय की तुलना में बहुत कम है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वैज्ञानिकों ने हमें अपने प्राकृतिक जीवन से हटा कर कारखानों के अन्धकारमय जीवन में ढकेल दिया है जिसका फल हिरोशिमा और वियतनाम की भयंकर स्थिति में दिखाई पड़ा। यह विज्ञान का यथार्थ में दुरुपयोग है।

सत्य की खोज

मेरे प्रिय शिष्य प्रख्यात भौतिकीविद् तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रोफेसर दौलत सिंह कोठारी ने जनवरी सन् 1975 में आयोजित "भारतीय

राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी'' की एक सभा में 'सत्य पर कुछ विचार' प्रकट करते हुए निम्नलिखित बातें कहीं थीं—

''विज्ञान और दर्शन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उचित अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। इससे इन दोनों को ही लाभ होने की संभावना है। विज्ञान बहुत हो चुका। विज्ञान और दर्शन के परस्पर के सहयोग को आगे बढ़ाने के लिए विश्वविद्यालयों और अकादमियों पर विशेष उत्तरदायित्व है। इन संस्थाओं में ''विज्ञान के दर्शन'' के लिए एक पद अलग से हो यह सुझाव है।

गणित विज्ञान और नीतिशास्त्र में सत्य का सिद्धान्त इन्हें नियमबद्ध रखता है। परम सत्य कोई नहीं होता। सत्य क्रिया और निरन्तर कार्य करने की शक्ति का मार्गदर्शक है।

मनुष्य का सबके बड़ा कर्तव्य और दायित्व सत्य के विभिन्न पहलुओं में सत्य का साहस, लगन और निष्ठा से अध्ययन तथा अनुसरण करना है। यह विज्ञान की हमारे लिए सर्वोच्च शिक्षा है और यही आज विश्व की सबसे बड़ी आवश्यकता है।''

धर्म का महत्व

एक अन्य ऐसा पक्ष है जो मनुष्य की प्रकृति को समझने के लिए आवश्यक है। यह विश्वास किया जाता है कि आदम और हव्वा के मिलन से ही मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। इस क्रिया में संभवतः नैतिक बल सक्रिय न रहा होगा। अतः ऐसा लगता है कि मनुष्य के नैतिक गुणों का समावेश उसके जीवन की उत्पत्ति के साथ उसमें नहीं हुआ होगा। ये गुण संभवतः धार्मिक और नैतिक शिक्षा के द्वारा मनुष्य ने प्राप्त किये होंगे और इन गुणों का समस्त संसार में, विशेषकर धनी राष्ट्रो में, अधिक विकास करने की आवश्यकता है। गिरजे, मंदिर, मस्जिद तथा आश्रमों आदि धर्मस्थलों को पूर्णतः पवित्र बनाये रखना चाहिए और वहाँ किसी प्रकार की अनैतिक और दूषित बातों का स्थान नहीं होना चाहिए वहाँ धार्मिक और चारित्रिक शिक्षा की व्यवस्था भलीभाँति होनी चाहिए। आज के कई विकसित देशों में लोग विभिन्न प्रकार के संहारक अस्त्रों का तथा अन्य युद्ध सामग्रियों का निर्माण कर रहे हैं और अविकसित देशों में इनका विक्रय करने का प्रयत्न कर रहे हैं जिससे वे परस्पर युद्धरत रहें। दुर्भाग्य से यह संसारव्यापी घटना है।

सचमुच में यह मनुष्य के लिए एक अच्छी बात हुई कि प्राचीन काल से समय समय पर विशाल मन्दिर, गिरजाघर, मस्जिद और अन्य धार्मिक पूजास्थल सर्वशक्तिमान परमात्मा और उसके भक्तों की पूजा के लिए बनाये गये, यद्यपि ईश्वर को किसी ने नहीं देखा है जो अदृश्य रूप में मनुष्य के भाग्य का विधाता है। इन सभी धार्मिक स्थानों में शिक्षा प्रदान किये जाने पर विशेष महत्व रहता है। मठ, विद्यालय, विश्वविद्यालय वास्तव

में गिरजाघरों की ही शाखायें हैं। इन सब ने मनुष्य के चारित्रिक विकास में और उसे ईश्वर की योग्य संतान बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

विज्ञान की प्रयोगात्मक विधियों के अनुसार कार्य करने वाले वैज्ञानिकों ने भी सत्य और ज्ञान के मार्ग का अनुसरण कर अपने चरित्र का विकास किया है।

बुद्ध एवं ईसा मसीह

प्रख्यात विचारक और दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर ने शिक्षा पर लिखी पुस्तक में कहा है कि मानव स्वभाव मूलतः बुरा है, परन्तु संसार चलायमान है। इस कारण इसमें अधिक संख्या में बुरे मनुष्य नहीं रह सकते। गौतम बुद्ध, ईसा और बाद में मोहम्मद जैसे अनेक लोगों ने मानव जीवन का उन्नयन किया।

मैंने इस बात पर गम्भीरता से विचार किया है कि गौतम बुद्ध के शिष्यों ने विश्व के पूर्वी भाग में ही बौद्धधर्म की शिक्षा का प्रचार और प्रसार किया, पश्चिम में नहीं। इसी तरह ईसा मसीह के शिष्य पॉल और पीटर ने ईसाई धर्म का प्रचार रोम और उसके आसपास के भूमध्यसागरीय क्षेत्रों में ही सीमित रखा। परिणामस्वरूप सम्पन्न तथा साधन-सम्पन्न पश्चिमी देशों में ईसाई धर्म अपनाया गया और आने वाले समय में इन देशों की सम्पन्नता के कारण इस धर्म को संसार के एक बड़े भाग में फैलाने में आसानी रही। आज सारा विश्व ईसाई धर्म से अधिक प्रभावित है। गौतम बुद्ध के शान्ति के सिद्धान्तों का प्रचार बर्मा, चीन, इंडोनेशिया, जापान तथा अन्य पूर्वी देशों में हुआ, किन्तु पश्चिमी देशों में ये सिद्धान्त नहीं पहुँचे। पश्चिम के ये देश निश्चय ही बड़े शक्तिशाली देश हैं परंतु स्वभाव से युद्धप्रिय हैं। यह तथ्य संसार के लिए एक विभीषिका के समान है।

जीसस क्राइस्ट ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया और कम आयु में ही उनका देहान्त हो गया, संभवतः 33½ वर्ष की आयु में। उन्होंने कहा है—(सेंट मेथ्यू का गास्पल, अध्याय 10, पद 33-34-35-37)—

"जो कोई मुझे मनुष्यों के सामने नहीं मानेगा, उसे मै स्वर्ग में अपने पिता के सामने नहीं मानूंगा"।

"यह मत सोचो कि मैं संसार को शान्ति देने आया हूँ किन्तु मैं शान्ति नहीं, तलवार देने आया हूँ"।

"जो अपने माता पिता को मेरी अपेक्षा अधिक प्यार करता है वह मेरे योग्य नहीं, जो अपनी संतान को मेरी तुलना में अधिक प्यार करता है वह मेरे योग्य नहीं"।

ऐसा प्रतीत होता है कि युवक ईसा जब अपने सिद्धान्तों के प्रचार में बहुत सक्रिय थे तब उन्होंने कभी संभवतः तलवार (शक्ति) की चर्चा की होगी और संभवतः इसीलिए

शक्तिशाली पश्चिमी देशों के लोग अपने जीवन में तलवार के प्रयोग को अलग नहीं कर पाये। तलवार ने पहले भी संसार में विनाश की लीला की है और अब भी कर रही है। संसार को अपने को तलवार से मुक्त करना चाहिए।

दूसरी ओर गौतम बुद्ध ने, जिन्हें 36 या 37 वर्ष की आयु में गया में ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त हुई, अपने विचारों और मनुष्य के आचरण के सम्बन्ध में शान्ति और युक्तिपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ईसा से पूर्व 420 वर्ष तक अपनी 80 वर्ष की आयु तक इनका प्रचार किया।

प्रो० अर्नेस्ट रेनान ने अपनी बहिन हेनरीटे के साथ जेरूसलम की यात्रा के पश्चात् सन् 1862 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "ईसा का जीवन" में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं—

"मेरे प्यारे जीसस, तुम मुझे प्यार करते हो, अतः मुझे वे सत्य बताओ जिनके द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, और उसके भय को समाप्त कर उसे प्रिय बनाया जा सकता है।

जीसस बुद्ध या जोरोआस्टर और प्लेटो के नाम से परिचित नहीं थे और न उन्होंने किसी यूनानी ग्रन्थ या बुद्ध के सूत्रों का अध्ययन ही किया था। फिर भी उनमें कुछ ऐसी अनुभूति थी जिससे वे स्वयं अवगत नहीं थे और जो उन्हें बौद्धों, पारसियों तथा यूनान के अध्यात्म ज्ञान से परिचित कराती थी। यह सब गुप्त मार्गों या गुप्त दैविक मार्गों से और मानवता के विभिन्न समूहों के बीच रहने वाली सद्भावना से ही हो पाया था। महान व्यक्ति अपने युग से एक ओर तो सब ज्ञान प्राप्त करता है और दूसरी ओर स्वयं उस युग का नियंत्रण करता है। यह प्रदर्शित करने से कि ईसा द्वारा स्थापित धर्म उनसे पूर्व जो कुछ आध्यात्मिक परम्परायें थीं, उनका प्राकृतिक परिणाम था, ईसाई धर्म की महत्ता कम नहीं होती वरन् इससे यह सिद्ध होता है कि ईसाई धर्म को स्थापित करने के पीछे कोई कारण था और उस युग के मनुष्यों की एक आवश्यकता थी।

मानवता के हर क्षेत्र के विकास का अपना एक विशेष युग होता है जिसमें तात्कालिक परिस्थितियों और ज्ञान के आधार पर वह स्वतः ही परिपूर्णता प्राप्त करते हैं। इन क्षणों में ईश्वरीय प्रेरणा के फलस्वरूप प्रतिभाशाली लोगों द्वारा प्रकृति जो महान कार्य कराती है वह कार्य अन्य समय में कितना ही प्रयत्न या परिश्रम किया जाय, नहीं हो पाता। इसी सिद्धान्त के अनुसार यूनान के स्वर्ण युग में कला और साहित्य का उच्च कोटि का विकास हुआ और ईसा के काल में धर्म का विकास हुआ। यहूदी समाज ने असाधारण चारित्रिक और बौद्धिक स्तर प्रस्तुत किया जो उसके पूर्व मानव समाज नहीं प्राप्त कर सका था। सचमुच में ये कोई पवित्र दैविक क्षण थे जिसमें बहुत सी अदृश्य शक्तियों के मिलन से यह स्वर्ण युग उत्पन्न हुआ, जिसमें ऊँची आत्माओं को आध्यात्मिक

अनुभूति और शान्ति प्राप्त हुई। ऐसा लगता है कि उनके शिष्यों के दोषों से ईसा के स्वयं के बहुत से दोष ढक गये किन्तु किसी ने भी ईर्ष्या और वैमनस्य की भावना को त्यागकर उनके समान अपने जीवन को मानव-मात्र के कल्याण के लिये पूर्णत: अर्पित नहीं किया। वे अपने ध्येय में इस प्रकार लीन हो गये थे और संसार के अन्य सब क्रिया-कलापों से अपने को इतना मुक्त कर लिया था कि उनके जीवन के अंतिम समय में संसार का अस्तित्व ही उनके लिये नहीं रह गया था। यही वह शक्ति थी जिसमें उन्हें स्वर्ग का मार्ग दिखलाया। शाक्य मुनि को छोड़कर ईसा की भाँति किसी भी ऐसे व्यक्ति ने संसार में जन्म नहीं लिया जिसने अपने कुटुम्ब, सांसारिक सुख और लौकिक इच्छाओं को इस सीमा तक तिलांजलि दी हो। ईसा मसीह का जीवन ईश्वरीय इच्छा और इस दैवी ध्येय को पूरा करने के लिए हुआ था और वह स्वयं भी यह समझते थे कि यह कार्य उन्हें पूरा करना है।"

OOO